प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान पीठ
लोहामण्डी आगरा।

संवत् २०११
प्रथम संस्करण
मूल्य २) दो रुपये

मुद्रक
चन्द्रोदय प्रिंटिंग प्रे
ब्यावर (अजमेर

श्रावक धर्म की
साधना के पथ पर
अग्रसर होने वाले
भाइयों और बहनों
को
सेवा में

प्रकाशकीय

महासती श्री उज्ज्वलकुमारी जी का यह श्रावक-धर्म पर का प्रवचन आपके सामने है। प्रवचन कितना सुन्दर, सरस एवम् हृदयग्राही है, यह जब पढ़ेंगे, सहज ही अनुभूति हो जायगी।

सन्मति ज्ञानपीठ, इस सुन्दर कृति के प्रकाशन पर आनन्दानुभूति करता है।

रतनलाल जैन
मन्त्री,
सन्मति ज्ञानपीठ आगरा।

सम्पादकीय

"सतीजी ! क्या यही जैनियों की अहिंसा है ?" महात्मा गांधीजी ने महासती जी उज्ज्वलकुमारी जी से कहा।

"यह बात अहमदाबाद की है, उस समय मैं वहीं था जब कांकरिया तालाब का पानी सूखता चला जा रहा था। तालाब में रही हुई मछलियाँ पानी के अभाव में कहीं तड़प-तड़प कर मर न जायँ, इसके लिये जैनी लोग प्रतिदिन पानी के घड़े भर कर ले जाते और उस तालाब में उँड़ेल देते थे। इस तरह वे मछलियों की दया पालते थे। परन्तु दूसरी तरफ वे ही अधिक ब्याज व मुनाफा लेकर मनुष्यों का शोषण करने में भी हिचकिचाते नहीं थे।"

"तो क्या यही जैनियों की अहिंसा है" ? गांधीजी ने सतीजी से पूछा।

महात्माजी जैसे तटस्थ विचारक का भी जैनियों की अहिंसा के प्रति कैसा ख्याल था यह इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है। हालांकि इसमें यथार्थ भी काफी रहा हुआ है।

सतीजी ने कहा—"आजकल जैनियों की अहिंसा चाहे जैसी हो पर, भगवान महावीर की अहिंसा का यह स्वरूप नहीं है। वह अहिंसा तो इतनी विशाल है कि इसमें छोटे से छोटे जन्तु से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक की अहिंसा का विधान है। सतीजी से उस शास्त्र-सम्मत अहिंसा का विवेचन सुनकर गांधीजी बड़े प्रसन्न हुए।

यद्यपि उस समय समयाभाव से अन्य मतों का विस्तृत विवेचन गांधीजी के समक्ष नहीं हो सका था, परन्तु जो विचारधारा उस समय

आरंभ हुई थी वही इन व्रतों के प्रवचनों में प्रस्तुत की गई है। पाठक उसे पढ़ेंगे तो स्थान-स्थान पर व्रतों के विवेचन में वे नवीनता का ही अनुभव करेंगे।

सतीजी की प्रवचन शैली अनूठी है। वे अपना विषय इस खूबी से स्पष्ट करती हैं कि उनका एक एक शब्द श्रोताओं के दिलों पर गहरा प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। सचमुच वे हमारे समाज की एक गुण इच्छित विदुषी साध्वी हैं, जिनकी वाणी में तेज है और व्यक्तित्व उनका निखरा हुआ है।

जैन समाज की यही एक साध्वीरत्न हैं, जिनसे प्रभावित हो महात्मा गांधीजी ने भी बम्बई में लगातार उन्नीस दिन तक वार्तालाप किया था। सतीजी का यह वार्तालाप भी 'गांधी उज्ज्वल वार्तालाप' के नाम से अभी प्रकाशित हो चुका है।

समाज की यह विदुषी साध्वी आज नेत्र पीड़ा से ग्रस्त हैं। वर्षों से एक आंख तो बिल्कुल चली गई है, दूसरी आंख में भी फुन्सियाँ होती हैं और मिटती हैं फिर उठ आती हैं और मिट जाती हैं, इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है। पढ़ना लिखना तो वर्षों से बंद है, पर अब तो प्रवचन देना भी बंद सा ही है। आँख इसकी इजाजत भी नहीं देती। समाज का अपना भाग्य। और क्या कहूँ !

सन्मति ज्ञान पीठ आगरा प्रकाशन के क्षेत्र में अपने जो द्रुतगामी कदम बढ़ा रहा है निस्सन्देह यह उसका साहस ही है।

समाज उसके इस सत्साहस की कद्र करे, बस इसी शुभ आरम्भ के साथ—

१५ अगस्त ५४ जैनप्रकाश कार्यालय चांदनी चौक, दिल्ली	रत्नकुमार जैन 'रत्नेश'

भूमिका

भगवान् महावीर स्वामी ने दो प्रकार के धर्म बतलाये हैं—एक साधु का धर्म और दूसरा गृहस्थ का। शास्त्रीय भाषा में इसे अणगार और आगार धर्म कहते हैं।

साधुओं के लिये भगवान महावीर ने पाँच महाव्रतों का विधान किया है—अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँच व्रतों का साधुओं को पूर्ण पालन करना पड़ता है। गृहस्थों के लिये बारह व्रतों का विधान किया है। इन बारह व्रतों में साधु के पाँच महाव्रतों का समावेश भी हो जाता है। परन्तु जिन व्रतों का साधु को पूर्णरूप से पालन करना पड़ता है, गृहस्थ उनका ही आंशिक रूप से पालन करता है। क्योंकि गृहस्थ संसारी है। संसारी अवस्था में रहकर पाँच महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन करना उसके लिये अशक्य है। अत इन व्रतों के पालन करने के लिये गृहस्थ आवश्यक छूट रख लेता है।

गृहस्थ के लिये जो बारह व्रत कहे गये हैं उन्हें तीन विभागों में विभक्त कर दिया गया है—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

ये बारह व्रत इतने महत्वपूर्ण हैं कि प्रत्येक मानव यदि इनका पालन करने लग जाय तो वह अपना जीवन सुखी बना सकता है। इतना ही नहीं, उसका कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन भी सुख रूप हो सकता है और विश्व के छोटे बड़े सभी संघर्ष स्वत ही शान्त हो सकते हैं।

आज जहाँ देखें वहाँ राष्ट्र राष्ट्र के बीच में, व्यक्ति व्यक्ति के बीच में, नौकर और मालिक के बीच में, शोषक और शोषित के बीच में घर्षण चल रहा है। धीरे धीरे दुनिया में से प्रेम और मैत्री का वातावरण अदृश्य होता जा रहा है। चूहा और

परन्तु दूसरी तरफ वे ही अधिक व्याज या नफा लेकर मनुष्यों का शोषण करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे ?

यह दृष्टान्त देकर महात्माजी ने व्यंग किया—'जैनियों की यह कैसी अहिंसा है ?'

महात्माजी जैसे तटस्थ विचारक और विशाल अनुभवी को भी जैनियों की अहिंसा के प्रति खयाल हुआ, यह इस दृष्टान्त से जाना जा सकता है।

महात्माजी के व्यंग का उत्तर देते हुए मैंने कहा था कि वर्त्तमान में जैनियों की अहिंसा चाहे जैसी हो, पर भगवान महावीर की अहिंसा तो व्यापक है, जिसमें छोटे-छोटे जन्तुओं से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के प्रति समान आचरण करने का विधान किया गया है। शास्त्रों में बताये गये अहिंसा के विस्तृत स्वरूप को हमारे से सुन कर महात्माजी ने जैनधर्म के सिद्धान्तों की विशालता और सूक्ष्मता के लिये अपना सन्तोष व्यक्त किया था।

महात्माजी के सामने प्रथमव्रत (अहिंसा) का विस्तृत विवेचन हुआ था। समयाभाव से अन्य व्रतों का विवेचन नहीं हो सका था। अतः उस समय की इस विचारधारा को इस चातुर्मास के बीच आपके समक्ष प्रकट करने का मैंने विचार किया है। बारह व्रत के नाम से तो आप सब परिचित हैं ही, परन्तु उनका क्या महत्त्व है ? इसको बहुत कम जानते हैं। इसी से आज सांसारिक सुखों की प्राप्ति में इन व्रतों की अवगणना की जा रही है। सभी इन बारह व्रतों की अपने जीवन में अनिवार्य रूप से आवश्यकता समझें और उन्हें ग्रहण कर आदर्श श्रावक बनें, यही इस विवेचना का ध्येय है। इस ध्येय की सफलता का आधार आप लोगों पर है, फिर भी मुझे आशा है कि इसमें निष्फलता नहीं होगी।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ



"एस ठाणे आरिए
जाव
सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे
एगत सम्मे
साहू ।"

—सूत्र कृताग २,१८,४१

श्रावक-धर्म

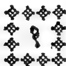
[श्रावक के बारह व्रत]

(१)

अहिंसा व्रत

"एस ठाणे आरिए
जाव
सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे
एगंत सम्मे
साहू।"

—सूत्र कृताग २,१८,४४



अहिंसा-व्रत



जैसे नदी के प्रवाह को मर्यादित रखने के लिये दो किनारों की आवश्यकता होती है, वैसे ही जीवन के प्रवाह को शुद्ध और सरल बनाने के लिये व्रतों की आवश्यकता है। नदी अगर यह कहे कि 'मुझे दो किनारों का बंधन नहीं चाहिये मैं तो स्वतंत्र होकर बहूंगी तो उसका पानी इतस्तत छिन्नभिन्न हो जायगा। यही हाल मानव-जीवन का भी है। मनुष्य पर व्रतों का बंधन नहीं रहेगा तो उसकी जीवन शक्ति भी तितर बितर होकर क्षीण हो जायगी। अतः जीवन-शक्ति को केन्द्रित कर योग्य दिशा में उसका उपयोग करने के लिये व्रतों की अनिवार्य आवश्यकता है।

भगवान् महावीर ने बारह व्रत बताये हैं। उसमें सबसे पहला व्रत अहिंसा का है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि —

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणीवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥

अर्थात् - सभी प्राणियों को जीवन प्रिय होता है और मरण अप्रिय। अत साधक पुरुषों द्वारा प्राणी-वध नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि यह भयंकर पाप है।

हिंसा की व्याख्या करते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि —'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमत्त योग से प्राण का नाश करना हिंसा है। प्रमत्त योग अर्थात् राग द्वेष से की गई प्रवृत्ति हिंसा होती है।

सब प्राणियों को अपने कर्मानुसार रक्षा करने के लिये नाखून, खाने के लिये दांत और डाढ देखने के लिये नेत्र सुनने के लिये कान, सूंघने के लिये नाक, चखने के लिये जीभ आदि अंगोपांग मिले हुए हैं। इन अंगोपांग को छीन लेने का अधिकार मनुष्य को नहीं है। जो मनुष्य एक नाचीज मक्खी की पांख भी नहीं बना सकता है उसे उसको मारने का क्या अधिकार है?

परन्तु स्वार्थांध बना हुआ मनुष्य कुछ विचार नहीं कर सकता है। मांसाहार करने वाले कई बार यह दलील करते हैं कि 'ये सभी पशु पक्षी किसके लिये उत्पन्न किये गये हैं? ईश्वर ने इन्हें मनुष्यों के लिये ही उत्पन्न किया है।' ऐसा कहने वालों से अगर सिंह यह कहे कि 'ईश्वर ने मनुष्यों का सृजन मेरी खुराक के लिये ही किया है' तो कहिये लोग इसका क्या जवाब दे सकेंगे?

इस दलील में और कोई तथ्य नहीं है। उसमें केवल स्वार्थ और स्वादलोलुपता ही है। जैसा जीव मनुष्य में है वैसा ही जीव पशु पक्षियों में भी है। जैसे मनुष्य यह नहीं चाहता कि सिंह या बाघ उसको अपना आहार बना ले, वैसे ही मनुष्य को भी चाहिये कि वह अपने खाने के लिये पशु-पक्षियों का उपयोग न करें।

हाँ यह सच है कि मनुष्य में एक विशिष्ट प्रकार की बुद्धि है, जो कि पशु पक्षियों में नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह इसका उपयोग पशु पक्षियों को पकड़ने में मारने में और खाने में करें। ऐसा करना तो बुद्धि का दुरुपयोग ही कहा जायेगा। अत उसे अपनी बुद्धि का सदुपयोग सब की रक्षा करने में ही करना चाहिये।

जैसे मानव को अपना जीवन प्रिय है वैसे पशु पक्षियों और छोटे २ जीवों को भी अपना जीवन प्रिय होता है। अत जीव हिंसा से दूर रहना चाहिये। अहिंसा आध्यात्मिक जीवन की आत्मा है—नींव है, इसीलिये बारह व्रतों में उसे सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। भगवान् महावीर के शब्दों में कहें तो अहिंसा भगवती है। बिना भगवती की शरण में आये साधक पुरुष अपना विकास नहीं कर सकता है।

सब व्रतों में अहिंसा व्रत जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही उसका पालन दुष्कर है। महात्माजी के शब्दों में कहें तो 'अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही वह सकड़ा भी है। यह मार्ग खाडे की धार पर चलने जैसा है। नट, जिस रस्सी पर एक नजर रख चलते हैं उससे भी सत्य अहिंसा की यह रस्सी पतली है। थोड़ी भी असावधानी रही कि धड़ाम से नीचे आ गिरे। उसके दर्शन तो उसकी साधना करने से ही हो सकते हैं।'

किसी को भी नहीं मारना- इसका समावेश तो अहिंसा में होता ही है परन्तु कुविचारों को नहीं छोड़ना भी हिंसा है। किसी का बुरा चाहना, जो वस्तु दूसरों को चाहिये उस पर अपना अधिकार जमाये रखना भी हिंसा है।

अहिंसा के पालन से ही सच्ची शान्ति प्राप्त की जा सकती है। हिंसा से कभी शान्ति नहीं मिल सकती। अंग्रेज लेखक ल्युथर ने कहा है कि—Nothing good ever comes of violence अर्थात्-हिंसा में से कभी अच्छा परिणाम निकलने वाला नहीं है। एक दूसरे अनुभवी ने लिखा है कि—The violence done to us by others is often less painful than that which we do to others अर्थात् हम दूसरों को कष्ट देते हैं, उसके बदले अगर वे हमें कष्ट दें तो यह उतना दुःखदायी नहीं होता है जितना कि हम दूसरों को देते हैं। हम दूसरों को अधिक कष्ट देते हैं जब कि दूसरों की तरफ से हमें बहुत कम कष्ट दिया जाता है। इस वक्रोक्ति में रहस्य यह है कि अपनी तरफ से किसी को दुःख न पहुँचे इसकी हमें सावधानी रखनी चाहिये। दूसरे शब्दों में कहें तो खुद सहन करना और दूसरों को न सताना यही सबका ध्येय होना चाहिये। इसीका नाम अहिंसा है।

दया करुणा, अनुकम्पा, सेवा प्रेम, मैत्री आदि सभी अहिंसा के ही स्वरूप हैं। दयालु हृदय नंदनवन की तरह होता है। जैसा कि कहा भी है - Paradise is open to all kind hearts दयालु हृदय के लिये स्वर्ग के द्वार खुले ही होते हैं। निष्ठुर हृदय के बादशाह से एक दयालु हृदय का कंगाल अधिक बड़ा-चढ़ा होता है। यही बात टनीसन ने भी कही है कि—Kind hearts are more than coronets एक दूसरे विद्वान् ने

भी कहा है कि Kindness is the golden chain by which society is bound together अर्थात् दया की स्वर्ण जंजीर समाज को संगठित रखने के लिये है। बायरन के शब्दों में कहें तो–The drying up a single tear has more of honest fame than shedding seas of gore अर्थात्–युद्ध में खून की नदियाँ बहा देने वाले विजेता से वह साधारण मनुष्य, जो दुःखी मानव का आँसू पोंछता है, अधिक प्रशंसा का पात्र है। अतः अहिंसा के साथ २ दया और मैत्री की भी आराधना करनी चाहिये।

दया से जीवन उन्नत बनाया जा सकता है। एक समय की बात है, एक जंगल में आग लग गई। सभी पशु-पक्षी उससे बचने के लिये इधर-उधर दौड़ रहे थे। उस जंगल में एक हाथी भी अपने झुंड के साथ रहता था। आग से बचने के लिये उसने अपने झुंड के साथ मिल कर एक योजन अर्थात् चार कोस का मैदान साफ कर डाला। जहाँ एक सूखी घास का तिनका भी न रहा वहाँ अब आग लगने का डर नहीं था। अतः भागे हुए पशु वहाँ आकर इकट्ठे होने लगे। हाथी ने तो अपने समुदाय की रक्षा के लिये ही यह मैदान साफ किया था, परन्तु फिर भी उदार भाव से उसने अन्य प्राणियों को भी वहाँ आश्रय दिया। मैदान पशुओं से सारा भर गया था। कहीं पाँव रखने की भी जगह न रही। इतने में एक खरगोश वहाँ आ पहुँचा। पर जगह कहाँ? इतने ही में नायक हाथी ने अपना एक पाँव शरीर खुजलाने के लिये ऊपर उठाया। खरगोश ने पाँव के नीचे की जगह खाली देखी तो तुरन्त वहाँ आकर बैठ गया। हाथी ने अपना पाँव नीचा किया तो उसे मालूम हुआ कि यहाँ भी कोई प्राणी आकर बैठ गया है। अतः उसने अपना पाँव पुनः ऊपर उठा लिया और तीन पैरों से ही खड़ा रहा।

जंगल की दावाग्नि तीन दिन बाद शान्त हुई। उस दिन तक हाथी ने अपना पाँव ऊपर ही उठाये रखा। अग्नि के शान्त हो जाने पर वहाँ के सभी प्राणी धीरे २ बाहिर निकलने लगे। उस खरगोश के चले जाने पर हाथी ने भी अपना पाँव जमीन पर रखने के लिये नीचा किया। परन्तु लगातार तीन रोज तक इस तरह खड़े रहने से उसकी नसें तन गई थीं अतः धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और तत्काल ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

वही हाथी का जीव मगध राजा श्रेणिक के यहाँ मेघकुमार के नाम से उत्पन्न हुआ। अनुकम्पा करुणा, दया या अहिंसा का ही प्रताप है कि एक हाथी का जीव मर कर राजकुमार बना।

हाथी जैसा प्राणी भी अपने जीवन की परवाह न कर इतनी दया पाल सकता है तो सरकारी मानव से विशेष आशा रखना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

हाथी का यह आदर्श दृष्टान्त आज के श्रीमन्तों को याद रखने जैसा है। हाथी जैसे पशु के पास अन्य कोई ऐसा बाह्य साधन नहीं होता है कि जिससे वह दूसरों की मदद कर सके। फिर भी उसने अपने शरीर बल का उपयोग कर चार कोस की जमीन पशु-पक्षियों के रक्षण के लिये साफ कर दी–उपद्रव रहित बना दी। तब कहिये, आज के श्रीमन्त जिनके पास अटूट द्रव्य और आय के भी अनेकों साधन हैं, वे चाहें तो अपने तन मन धन और द्रव्य साधन सामग्रियों का कितना सदुपयोग कर सकते हैं?

हाथी जितना करुणाभाव भी आज के श्रीमन्तों में आ जाय तो संसार की विषमता दूर होने में देर न लगे। विषमता

दूर होने पर सब मनुष्य अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सकते हैं। फिर किसी को भी अपने जीवन निर्वाह के लिये अनीति का सहारा न लेना पड़े न असत्य बोलना पड़े और न किसी का शोषण ही करना पड़े। ऐसा करने से ही दोनों को अर्थात् श्रीमन्तों और गरीबों का श्रेय निहित है।

विशेष भोग देने की बात तो दूर रही, श्रीमन्त अपने मकान की छाया का उपयोग ही गरीबों को करने दें तो इससे उन्हें काफी राहत मिल सकती है। अर्थात् बचा हुआ अन्न, फटे हुए वस्त्र और काम में न आने वाली अन्य वस्तुएँ गरीबों को दे दी जाय तो यही उनके लिये रेगीस्तान में पानी की नहर सिद्ध होगी। श्रीमन्तों के लिये तो यह बढ़े हुए नखों और बालों को काट डालने जैसी सामान्य बात ही कही जायगी।

किसी किसी स्थान पर तो बिल्कुल विपरीत स्थिति दिखाई पड़ती है। अपने कुए में से कोई गरीब पानी भरने आता है तो उसे चौकीदार द्वारा धमकाया जाता है। कुए के पानी का भी यह हाल है तो नल के पानी की तो बात ही कहाँ रही? ऐसी संकुचित मनोवृत्ति वालों के लिये मेघकुमार के हाथी के भव की अनुकम्पा, उदारता और स्वार्थ त्याग की भावना शिक्षाप्रद है।

हमारे पूज्य गुरुदेव इन सब व्रतों की बड़ी व्यापक और सुन्दर व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि 'मन, वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति करने से पूर्व उसके भावी परिणाम का विवेक मय विचार करना अहिंसा है। अहिंसा का उपासक व्यापार करने से पूर्व यह विचार कर लेता है कि मेरा व्यापार शोषक है या पोषक? जिस व्यापार से दूसरे की आजीविका छिन जाती

लग जाय तो फिर कोई किसी का खून कर सकता है ? सभी अपने कुटुम्ब की तरह ही अन्य कुटुम्बों को भी चाहने लग जाय तो कौन किसका शोषण कर सकता है ? सभी अपने देश की तरह अन्य देशों को भी चाहने लग जायं तो कौन किस पर चढ़ाई कर सकता है ? इस प्रकार अगर गहरा विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि दुनिया में सभी दुःखों की एक दिव्य औषधि मैत्री ही है।

अहिंसक पुरुष सेवाभावी होता है, उसमें सेवावृत्ति ठूंस ठूंस कर भरी होती है। अहिंसा के आराधक को अपने घर से सेवा की शुरुआत करनी चाहिये और धीरे २ उसे सारी दुनियाँ तक फैला देनी चाहिए। परन्तु उसकी सेवा में स्वार्थ की गंध नहीं आनी चाहिए। सेवा निष्काम भाव से करनी चाहिये। अन्यथा वह सेवा, सेवा नहीं, कुसेवा हो जायगी। सेवा के क्षेत्र में ऊंच नीच का भेदभाव, गरीब-श्रीमन्त का भेदभाव या स्वजन परजन का भेदभाव नहीं हो सकता है। ऐसी निःस्वार्थ अहिंसा का प्रभाव हर एक पर पड़ता है। जितने परिमाण में सेवा का विकास हुआ होता है उतने ही परिमाण में उसका प्रभाव भी पड़ता है। अहिंसक के सामने क्रूर प्राणी भी अपना हिंसक स्वभाव भूल कर नम्र बन जाता है। जैसा कि कहा भी है कि—'*अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः*' अहिंसा के निकट सब प्राणी अपना वैर छोड़ देते हैं।

किसी भी क्रूर दुष्ट या हिंसक मनुष्य को सुधारना होगा तो आप उसे हिंसा या क्रोध से नहीं सुधार सकेंगे परन्तु अहिंसा, प्रेम और मैत्री से ही उसका सुधार किया जा सकेगा, आप अपने नौकर को भी दबाव से हुकम से या क्रोध से नहीं सुधार सकेंगे। आप अपने प्रेमपूर्ण बर्ताव से ही उसे सुधार सकेंगे।

कई लोग कहते हैं कि दया का बदला कई बार उल्टा मिलता है, दया बताने जाते हैं तो नौकर भी सिर पर सवार हो जाता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। जो नौकर प्रेमपूर्ण व्यवहार के प्रति भी असावधानी प्रदर्शित करता है, उसके लिये अगर आप कठोर बनेंगे तो उसका व्यवहार और अधिक कटु हो जायगा। उदार सेठ के प्रति भी जो नौकर असावधानी बर्तता है वह नौकर अनुदार सेठ को इससे भी अधिक नुकसान पहुँचाता है। कठोर बरताव से उसमें सुधार होने की सम्भावना बहुत कम रहती है, जब कि बिगड़ने की प्रेमहीन बनने की अधिक। अतः निष्कर्ष यही है कि चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न हो, मैत्री और प्रेमपूर्ण बर्ताव का परिणाम ही अच्छा निकलता है।

कोई मनुष्य चाहे जितना बुरा क्यों न हो पर चण्डकौशिक सर्प जितना तो भयंकर नहीं होगा न? चण्डकौशिक सर्प का विष मीलों तक हवा में मिल कर असर पहुँचाता था और कोई भी प्राणी उसके पास नहीं जा सकता था। ऐसे जहरीले सर्प को भी भगवान् महावीर ने अपनी मैत्री से सुधारा था। भगवान् महावीर ने अपने आदर्श व्यवहार से जो मार्ग दूसरों को सुधारने का बताया, वही राजमार्ग है। इसी पर चल कर दुनिया का कल्याण हो सकता है।

गालियाँ देकर किसी का दिल दुखाना, अपमान करना, निन्दा करना, मन से किसी का बुरा सोचना, किसी को लड़ने झगड़ने की सलाह देना आदि सभी हिंसा के भिन्न २ प्रकार हैं जो कि अहिंसा के उपासक के लिये त्याज्य हैं।

हिंसा और अहिंसा का माप निकालना कठिन नहीं है। जितने अंशों में समभाव हो उतने ही अंश में अहिंसा और

वृत्तिच्छेद का पाप भी वध की तरह ही है। शास्त्रों में कहा गया है कि वृत्तिच्छेद करने वालों को भी वध का ही पाप लगता है। 'वध' में स्पष्ट रूप से प्राणियों का वध होता है जब कि वृत्तिच्छेद में अस्पष्ट रूप से। अतः वध के अतिचार का विचार करते समय इसका भी विचार करना चाहिये कि कहीं हमारी क्रिया वृत्तिच्छेद करने वाली तो नहीं है? गृहोद्योग को नष्ट करने वाले जो व्यवसाय धन्धे हैं, उनसे कई गरीबों और विधवाओं की आजीविका नष्ट हो जाती है। जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कारखानों मिलों या यंत्रोद्योग को उत्तेजना देते हैं, पोषण करते हैं वे इस वृत्तिच्छेद के भागीदार बनते हैं।

पहले की गरीब विधवाएं चक्की पीस कर अपना भरण पोषण करती थीं बालकों को बड़ा करती थीं और पढ़ाती थीं। परन्तु जब से अनाज पीसने की चक्की आई तब से गरीब विधवाओं का यह धन्धा छिन गया है। उनकी आजीविका नष्ट हो गई है। इसमें सूक्ष्म रूप से वध का पाप रहा हुआ है। कपड़े की मिलों से चरखा चलाने वालों का तथा बुनकरों का धन्धा नष्ट हो गया है। इस वृत्तिच्छेद के भागीदार सभी मिल मालिक और शेयर होल्डर ही गिने जायेंगे। इस प्रकार गृहोद्योग बन्द करने वाले जितने भी यंत्रोद्योग हैं उनमें बनी हुई वस्तुओं का उपयोग करने से भी वृत्तिच्छेद और वध का भागीदार बनना पड़ता है।

'कई लोग यह तर्क करते हैं कि हम तो मिलों में तैयार कपड़े पहनते हैं, इसमें क्या पाप करते हैं? हम उन्हें बनवाते थोड़े ही हैं? इसका पाप तो मिल चलाने वालों को लग सकता है, हमको क्यों? इस पर जरा गहरा विचार करेंगे तो आपको प्रतीत

होगा कि इस वृत्तिच्छेद के साथ में मिल चलाने वालों के साथ २ मिलों की वस्तुओं का उपयोग करने वाले भी जुड़े हुए हैं। कारखानों में माल किसलिये तैयार किया जाता है। खरीदने और पहिनने वालों के लिये ही न? अगर ये न हों तो क्या ये मिलें चलाई जा सकेंगी? स्पष्ट है कि इनके अभाव में मिलों का कारबार स्वत बन्द हो जायगा।

चीन के कतिपय बौद्ध सम्प्रदायानुयायी पूर्ण शाकाहारी हैं। परन्तु जापान लंका और बर्मा आदि के बौद्ध मांसाहारी हैं। अहिंसादि सिद्धान्तों को मानते हुए भी ये मांसाहारी हैं। अगर उनसे कोई यह पूछे कि तुम अहिंसा को मानने वाले होकर भी मांसाहार कैसे करते हो, तो वे उत्तर में कहेंगे, 'हम अपने हाथ से पशुओं को कहाँ मारते हैं? बाजार में मांस मिलता है और हम उसे खरीद लाते हैं। इसमें हमको कहाँ हिंसा लग जाती है? वहाँ बेचने वालों की दुकान पर भी यह बोर्ड लगा हुआ होता है कि **Not killed for you"**

इस दलील में क्या आपको यथार्थता महसूस होती है? आप यह कहेंगे कि मारने वाला भी मांस खाने वालों के लिये ही तो पशुओं को मारता है, अत मांस खाने वाला भी हिंसा से कैसे बच सकता है?

जैसे बौद्धों की यह दलील यथार्थहीन है– निस्सार है, वैसे ही मिलों और कारखानों की महारंभी वस्तुओं को उपयोग में लेने वालों की दलील भी निस्सार है। उपयोग में लेने वाला भी 'वध' का भागीदार अवश्य बनता है। अत 'वध' के अतिचार से बचने के लिये अहिंसा के उपासक को इन सभी प्रवृत्तियों से और वस्तुओं से दूर ही रहना चाहिये।

सुई पिन, सीने का धागा और साधारण वस्त्र आदि सभी छोटी बड़ी आवश्यक वस्तुयें महारंभी हैं— महाहिंसा से बनाई जाती हैं अतः इनका उपयोग करने वाले इस महारंभ को उत्तेजन देते हैं, यह भी स्पष्ट हो है।

श्री ठाणांग सूत्र में कहा गया है कि 'महारंभ की प्रवृत्ति करना या नरक गति में प्रवेश करना दोनों समान ही है।' क्योंकि महारंभ की प्रवृत्ति करने वाला मर कर नरक में ही जाता है। अतः इस व्रत के आराधकों को चाहिये कि वे किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पूर्व अल्पारम्भ और महारम्भ का विवेकपूर्ण विचार करें और तदनंतर ही उसका उपयोग करें। ऐसा करने से वे महारम्भ के पाप से और नरक के असह्य दुःखों से बच सकेंगे।

त्रस जीव की हिंसा करना नहीं कराना नहीं मन वचन और काया से, अहिंसा की इतनी बारीकी श्रावकों के लिये भी शास्त्रकारों ने फरमाई है। अहिंसा के आराधक को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के समय इस फरमान को दृष्टि-समक्ष रखना चाहिये।

छविच्छेद—किसी भी प्राणी के अंगोपांग नाक, कान आदि छेदना छविच्छेद नामक तीसरा अतिचार है। पशुओं की तरह मनुष्यों पर भी यह अतिचार लागू होता है। अंगोपांग की तरह ही आज मनुष्यों के लिये पैसा हो गया है। नौकर को कम वतन देना, मजदूर को कम वतन देना या उसकी मजदूरी का कम पैसा चुकाना भी छविच्छेद है। नौकर के मा बाप बीमार हों और वह उनकी सेवा के लिये अपने काम पर न जा सका हो तो ऐसे समय में नौकर का वेतन काटना भी उसको अंगोपांग छेदने जैसा ही आसह्य प्रतीत होता है। मनुष्यों के प्रति किये जाने वाले व्यवहारों में भी छविच्छेद का ऐसा विशाल अर्थ लेना चाहिये।

अतिभार—यह चौथा अतिचार है। मजदूर, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंट आदि पर उनकी शक्ति उपरान्त भार लादना अतिभार है। शक्ति उपरान्त नौकरों से काम लेना भी अतिभार है। शक्ति होने पर भी अपना काम खुद न कर दूसरों से कराना भी अतिभार है। महात्माजी भी कहते थे कि शक्ति और समय हो तो हर एक को अपना काम अपने हाथ से ही करना चाहिये। दूसरों के द्वारा नहीं करना चाहिये। काम अधिक होने पर नौकर रखा जाय तो वह अधिक काम ही उसके सुपर्द करना चाहिये।

गांधीजी की अनुयायी गंगाबेन वैद्य बोचासण विद्यालय में रहती हैं। उनकी उम्र ७० वर्ष की है। उन्होंने गांधीजी का उपदेश सुन कर एक गाय पाली और धीरे २ गायों की सख्या बढाती गई। वह इन गायों का सारा काम अपने हाथ से करती थीं। जब यह सख्या तीस तक पहुँच गई तब उन्हें एक नौकर भी रख लेना पड़ा। परन्तु जब तक वह थकती नहीं थी तब तक बराबर काम करती रहती थीं और नौकर को बैठा रखती थीं। जब वह थक जाती तभी नौकर को काम पर लगाती थीं। इस प्रकार मानव स्वावलम्बी बन जाय तो वह अतिभार के दोष से बच सकता है। शक्ति होने पर भी जो काम नहीं करते हैं, खा-पीकर सोते रहते हैं, पानी पीने के लिये भी दूसरों से मगाते हैं, वे अतिभार के पाप से कैसे बचे रह सकते हैं? आज तो नौकर के द्वारा ही घर का सारा काम कराया जाता है और वह थक जाता है तब भी उसकी परवाह नहीं की जाती है। आज के नौकरों की स्थिति तो पशुओं से भी ज्यादा खराब है। घर में घोड़ा होगा तो उसके लिये तो घर में स्वतंत्र जगह भी होगी और व्यवस्था के लिये एक स्वतंत्र आदमी भी रखा जायगा। बीमार हो जाने पर अपने डाक्टर से उसका उपचार भी कराया जायगा। इस प्रकार एक

घोड़े के पीछे लगभग २००) रु० प्रतिमास खर्च किये जायेंगे। परन्तु दूसरी तरफ इन्हीं २००) रु० में चार डिग्री वाले शिक्षकों की खोज की जायगी? घोड़े के बीमार हो जाने पर उसकी पूरी सार-सभाल की जाती है, परन्तु अपना नौकर बीमार हो जाय तो उसकी तरफ ध्यान देने वाले उसकी दवा का प्रबंध करने वाले और बीमारी का वेतन न काटने वाले कितने धनवान मिल सकेंगे? बीमार घोड़े को तो आराम भी दिया जायगा। कुछ दिनों तक उससे बिलकुल काम नहीं लिया जायगा। परन्तु बीमार नौकर को आराम देने वाला कोई सेठ मिल सकेगा? साइकल, मोटर, रेडियो और घड़ी खराब हो जाय तो उसे तत्काल ठीक कराई जाती है। परन्तु बीमार नौकर की तरफ इतना भी ध्यान कौन देता है? क्या मनुष्य की कीमत घोड़ा या इन जड यंत्रों से भी थोड़ी है? जिनसे आप काम लेते हैं उनके प्रति सजग हो उनकी आवश्यक सार सँभाल रखना भी आपका कर्तव्य हो जाता है।

यह तो नौकर और सेठ की बात हुई। सास और बहू के बीच में भी यही विषय लागू होता है। सासु सशक्त होने पर भी बैठी रहे और सारे घर का भार बहू पर डाल दे तो यह भी "अतिभार" कहा जायगा। घर में विधवा या त्यक्ता हो, तो उससे अधिक काम लेना, रसोड़ा का सारा काम-काज उसे सौंप देना, और दूसरों का निठल्ला बैठे रहना, यह भी एक तरह का अतिभार ही है।

प्रत्येक मनुष्य को खाने के लिये अनाज चाहिये, और पहिनने के लिये वस्त्र। रहने के लिये मकान तथा बर्तन बासन आदि अनेक वस्तुएँ चाहिये। आप अन्न खाते हैं और वस्त्र पहिनते हैं पर खेती की कला आप जानते नहीं हैं और न वस्त्र

बुनने की कला ही आपने सीखी है। मकान में रहते हैं पर मकान की मरम्मत कर लेना आप समझते नहीं हैं। इसी तरह अनेक चीजों का आप उपयोग करते हैं जिनका उत्पादन दूसरे मनुष्य करते हैं। बिना कोई नवसृजन किये इन सभी वस्तुओं का उपयोग करना भी ठीक नहीं है। उसमें भी सूक्ष्म रूप से इन अतिचारों का सेवन रहा हुआ है। अतिभार के अतिचार से बचने के लिये मनुष्य को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना चाहिये।

अन्न-पान निरोध– यह पाँचवाँ अतिचार है। जिसका अर्थ है अन्न-पानी का विरोध करना। किसी के खान पान में रुकावट डालना। खाने के समय नौकर को खाने के लिये न जाने दिया हो तो उसमें 'अन्न-पान निरोध' का दोष लगता है। किसी की आजीविका नष्ट कर देना, किसी की नौकरी छुड़ा देना भी इसी अतिचार में आते हैं। गरीब प्रजा भूखों मरती हो, पर व्यापारी लोभवश अनाज का संग्रह रखे या अधिक पैसों की प्राप्ति के लिये विदेशों में अनाज भेज दे, तो इससे भी 'अन्न पान निरोध' का दोष लगता है। दुष्काल के समय में, लग्नादि प्रसंगों पर या धार्मिक उत्सवों में केवल अपनी वाहवाही के लिये जो बड़े २ जीमनवार कर अनाज का दुरुपयोग करते हैं, वे भी इस अतिचार के भागी बनते हैं।

पहले व्रत के ये पाँच अतिचार हैं जिससे अहिंसा के आराधक को दूर रहना चाहिये।

पशु को कष्ट हो, ऐसा गाढ बन्धन बांधना नहीं, उसको मारना नहीं, अंगोपांग छेदना नहीं, उस पर विशेष-भार लादना नहीं और उसके खान-पान की सुव्यवस्था में उपेक्षा रखना नहीं, इन अतिचारों के सिवाय ऊपर कहे गये अतिचारों से

के लिये पूर्ण जागृति रखने से ही इस व्रत की सम्यक्तया आराधना की जा सकती है।

पहले व्रत के ये अतिचार, मानव और पशुओं के साथ किये गये व्यवहार में तो लागू होते ही हैं परन्तु एक विचारक ने इन्हें कौटुम्बिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटाये हैं। आज दिन तक इन अतिचारों का बड़ा ही मर्यादित अर्थ होता रहा है अतः यह विचारश्रेणी अवश्य नई प्रतीत होगी। परन्तु विकास के इच्छुक और विचारक वर्ग के लिये व्यापक अर्थ घटाना भी आवश्यक है।

पति के मर जाने पर जबरन रोना धोना छाती, माथा ठोकना काले वस्त्र पहनना, कोने में बैठना, यह 'वध' है। इस रिवाज को नहीं पालने वालों की निन्दा करना "बंध" है। इस रिवाज को नहीं पालने वालों की प्रतिष्ठा में कमी करना 'छविच्छेद' है। रूढियों के हिताहित का विचार किये बिना उनका भार दूसरों पर डालना 'भारारोपण' है। गरीब बहिन जो काम करके अपना पेट भरती हो, उसके काम में अन्तराय डालना 'भत्तपाणनिरोध' है। इस प्रकार अयोग्य रूढियों में भी ये अतिचार लागू होते हैं।

सन्तान को धर्मज्ञान न देना, संसाराभिमुख करने का प्रयत्न करना संसारावस्था में बांध रखना, इनका भी बन्ध अतिचार में समावेश होता है। पिता की आजीविका का साधन अल्पारम्भी या आर्यधर्मानुकूल न हो उसमें अधर्म या अनीति का सेवन करना पड़ता हो किसी तरह का व्यसन लगा हुआ हो तो सन्तान पर भी उसका प्रभाव पड़ता ही है। इससे पिता

तथा पुत्र को कर्मबन्ध होता है। अतः यह भी एक तरह का बन्ध ही है।

सन्तान के लिये विशेष सम्पत्ति रखे जाने की भावना करना भी परिग्रह का बन्ध है। अपनी हौंस पूरी करने के लिये बाल्यावस्था में ही पुत्र पुत्रियों को लग्नग्रन्थियों में जकड देना भी वध ही है। इससे उनका विकास रुक जाता है। विषय कषाय का सेवन करने से आत्म-गुणों का वध होता है। परिग्रह से जो विषय-कषाय और आरम्भ की वृत्ति पैदा होती है वह भी 'वध' ही है।

प्रमादी बन कर ज्ञान-दर्शन और चारित्र के आत्म गुणों में कमी करना 'छविच्छेद' है। अज्ञान, स्वार्थवृत्ति, मोह, ममता और अहंभाव के संस्कार अपनी सन्तानों पर डालना 'अतिभार' है। ममता, शान्ति सन्तोष आदि गुणों से उनको अलग रखना उनके आत्मिक भोजन में अन्तराय डालने जैसा है।

लग्नादि प्रसंगों पर जेवर और वस्त्र चढाने का रिवाज भी एक तरह का बन्ध ही है। मरण भोज अट्ठाई, वर्षीतप या अन्य किसी प्रसंग पर प्रभावना बांटना या वरघोडा निकालना भी एक बन्धन है। ऐसा न करने वाले की निन्दा करना 'वध' है। ऐसा न करने वाले की प्रतिष्ठा में कमी लाना छविच्छेद' है। समाज में सभी लोग आर्थिक दृष्टि से समान नहीं होते हैं, फिर भी गरीबों पर चालू रीति रिवाज पूरा करने का भार डालना 'अतिभार' है। ऐसे रिवाजों से गरीबों को अपनी आजीविका चलाना भी मुश्किल हो जाता है। ऐसी स्थिति में आ जाना 'भत्तपाण विवच्छेद' अतिचार है।

आज के युग की पुकार है कि अतिचारों का ऐसा व्यापक अर्थ करने पर ही व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति की जा सकेगी। कुरिवाजों का आग्रह रखने से समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन पापों का भागीदार बनता है।

अहिंसा की सम्यक् आराधना के लिये गृहस्थों को इन अतिचारों से बचना चाहिये और इनका अर्थ व्यापक रीति से करना चाहिये।

भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस एक ही व्रत को यदि पूर्ण रूप से मानव स्वीकार कर ले तो दुनिया के कई अनर्थ अपने आप कम हो सकते हैं और मनुष्य शांति से अपनी जिन्दगी बसर कर सकता है।

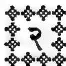


श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(२)

सत्य व्रत



सत्य-व्रत

दूसरा व्रत 'थुलाओ मुसावायाओ वेरमणं' है। मृषा बोलने से बचना इस व्रत का उद्देश्य है। असत्य भाषण न करना इस व्रत की निषेधात्मक (Side) बाजु है और सत्य की आराधना करना विधेयात्मक। सत्य की आराधना करना जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसादि पांच व्रतों का वर्णन आता है। उसमें अन्य किसी व्रत का नहीं पर सत्य को ही भगवान की उपमा दी गई है। उसमें कहा है कि 'सच्चं ख
सत्य ही भगवान् है।

वैदिक धर्म में 'सत्यनारायण' शब्द प्रचलित है। इसका अर्थ भी यही है कि सत्य ही नारायण है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में सत्य का महत्व माना गया है।

जैसे कल सूर्य उगने वाला है इसमें किसी को शंका नहीं होती है, वैसे ही सत्य की विजय में भी निश्शंक होना चाहिये। शास्त्रकार सत्य की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि *सच्चं लोगम्मि सारभूयं* सत्य ही एक सारभूत वस्तु है और सब निस्सार है।

इस व्रत के आराधक की वाणी में न कठोरता का अंश होता है और न कटुता का ही। न उसकी वाणी तामसी होती है और न अप्रिय ही। भाषा का असत्य आडम्बर भी उसकी वाणी में नहीं होता है। उसकी वाणी तो मधुर, सात्विक और नम्र होती है। मित और प्रिय होती है।

सत्य के आराधक का विचार और वाणी ही सत्य नहीं होती पर उसका आचरण भी सत्यमय होता है। इमर्सन के शब्दों में कहें तो The greatest homage we pay to truth is to use it अर्थात् सत्य को अपने जीवन में उतारना ही सत्य का सर्वोच्च सम्मान करना है।

ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार के सत्य बताये गये हैं—*चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते तंजहा काउज्जुयया, भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे।* अर्थात् काया की सरलता भाषा की सरलता, भावों की सरलता और इन तीनों योगों की अविसंवादिता सत्य के चार प्रकार हैं।

दुनिया के धर्म भिन्न रहें पर उन सब धर्मों का सत्य एक ही है। इसमें कहीं भिन्नता नहीं है। सब जीवों के प्रति कल्याण

भावना रखना मानसिक सत्य है। विवेकमय बोलना वाचिक सत्य है। किसी का अहित न हो ऐसी प्रवृत्ति करना कायिक सत्य है। सत्य की इस व्याख्या को सभी धर्मों ने समान रूप से स्वीकार की है।

सत्य व्रत की आराधना करने के लिये जैसे बने वैसे कम बोलने की आदत डालनी चाहिये। हित मित, सत्य और पथ्य वचन के सिवाय और कुछ बोलने की आदत भुलानी चाहिये। बोलने से पहले सुनने वाले पर क्या असर होगा ? इसका विचार कर लेना चाहिये। किसी को वचन देने से पहले अपनी शक्ति का माप अवश्य निकाल लेना चाहिये।

महात्माजी ने 'मंगल प्रभात' में लिखा है कि सत्य की आराधना में तपश्चर्या करनी होती है, उसके पीछे कष्ट सहन करना पड़ता है और कई बार तो मृत्यु से भेंटने का मौका भी आ जाता है। उसमें स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती। यह सत्य रूप परमेश्वर रत्नचिन्तामणी समान है, जिसकी प्राप्ति से जीवन तेजस्वी और शौर्ययुक्त बनता है।

सत्य, मानव हृदय में रही हुई ईश्वर की मूर्ति है। सत्य की दिशा जिसे सूझ गई, समझ लो ईश्वर के सब आशीर्वाद उसे प्राप्त हो गये। सत्य के बिना मनुष्य अन्धा है। सत्य ही मानव का हृदय चक्षु है।

मनुष्य जब सत्य का अनुसरण करने लगता है और उसकी दृष्टि में हमेशा सत्य ही रहने लग जाता है तब उसे कभी २ ऐसा भी प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि सत्य मुझे लोक-समुदाय से

चाहिये। उसे इसका विश्वास होना चाहिये कि सत्य मुझे अधिकाधिक ईश्वर के समीप ले जा रहा है।

हर एक मनुष्य यह चाहता है कि सत्य मेरे पक्ष में रहे, परन्तु ऐसे मनुष्य विरले ही होते हैं जो सच्चे दिल से सत्य के पक्ष में रहते हैं। अर्थात् दुनिया की दृष्टि से सच्चा बनना तो सभी चाहते हैं, परन्तु सच्चे दिल से सत्य का आचरण करना कोई विरले ही चाहते हैं। सुकरात का शिष्य प्लेटो कहता है कि— There is nothing so delightful as the hearing or the speaking of the truth अर्थात्— सत्य वचन सुनने और सत्य बोलने से अधिक आनन्दप्रद कुछ भी नहीं है।

हजारों सूर्य मिलकर भी सत्य के प्रकाश का मुकाबला नहीं कर सकते और न लाखों राहु ही असत्य के अंधकार का मुकाबला कर सकते हैं। सत्य के प्रकाश के सामने हजारों सूर्यों की और असत्य के अंधकार के सामने लाखों राहुओं की शक्ति परास्त हो जाती है। यों सभी सद्गुणों का सत्य में और सभी दोषों का असत्य में समावेश हो जाता है। सत्य का आराधक दिन प्रतिदिन नम्र बनता जाता है और अपनी त्रुटियाँ स्वयं समझ कर उन्हें सुधारता जाता है। इसीलिये सत्य को स्वयम्भू, सर्वशक्तिमान् और स्वर्वीर्यगुप्त-स्ववीर्यरक्षित कहा गया है। इन्द्रियजन्य सुख और सामर्थ्यजन्य सत्ता इन दोनों के साथ सत्य का बारहवाँ चन्द्रमा है— यानी विरोध है। सत्य पालन से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है। सत्य के पालन से दो प्रकार के सामर्थ्य प्राप्त होते हैं। पहला उसकी वाणी में तेज आ जाता है और उसका सर्वत्र प्रभाव पड़ता है। दूसरा प्रत्येक वस्तु का रहस्य उसे अपने आप समझ में आने लग जाता है।

असत्य में कुछ बल नहीं होता है। वह निर्बल है। अत निर्बल का आश्रय लेने से निर्भयता तो आ ही कैसे सकती है? सत्य बलवान् है अत उसका आश्रय लेने से निर्भयता पैदा होती है। जिन तोपों और मशीनगनों के नाम से मनुष्य काँप उठते हैं, उनकी आवाज से मनुष्यों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं वे ही तोपें और मशीनगनें सत्य-बल के सामने नाचीज हो जाती हैं, उसका बाल भी बांका नहीं कर सकती हैं।

सत्य का पालन प्रकृति भी करती है। समयानुसार ऋतुओं का परिवर्तन होना, समुद्र में ज्वार और भाटा का आना, सूर्य चन्द्र का उदय और अस्त होना, ग्रहों का नियत परिभ्रमण ये सब प्राकृतिक सत्य के परिचायक हैं। यदि प्रकृति इस प्रकार सत्य का अनुसरण न करे तो कितनी अव्यवस्था फैल जाय?

ग्रीष्म ऋतु के समय वर्षाऋतु आ जाय और वर्षाऋतु के समय शीतऋतु आ जाय तो कितनी गड़बड़ हो जाय? इसी तरह मनुष्य भी यदि सत्य का उल्लंघन करता है तो अव्यवस्था पैदा हो जाती है। आज की ये सभी सामाजिक अव्यवस्था असत्यमय आचरण को लेकर ही हैं। सामाजिक या राष्ट्रीय, आर्थिक या कौटुम्बिक किसी भी प्रकार की व्यवस्था कायम रखने के लिये सत्य की नितान्त आवश्यकता होती है। क्योंकि सत्य ही इसका एकमात्र राजमार्ग है।

सत्य का गुण तो स्वभावतः मनुष्य में होता ही है और सत्य का आचरण करने के लिये प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं होती है। यदि मनुष्य कुसंगति में पड़ कर या असत्य के वातावरण में रह कर, असत्य का ग्रहण नहीं करे तो सत्य का आचरण उसके लिये स्वाभाविक ही बन जाता है। यदि कोई प्रारम्भ से ही

के वातावरण में पलता है तो फिर वह कभी असत्य का विचार भी नहीं ला सकता है। छोटे बालक को सत्य का उपदेश देने की जरूरत नहीं है, जरूरत है उसके सामने सत्यमय आचरण और वातावरण खड़ा कर देने की। यदि वह सत्य के वातावरण में पलता है तो वह अवश्य सत्यवक्ता बनता है। इस प्रकार सत्य मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, जब कि असत्य तो उस पर बाहर से लादा जाता है।

जीवित रहते हुए हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं किया जा सकता है। परन्तु असत्य के लिये ऐसा नियम नहीं है। खान पान, श्वासोच्छ्वास हलन चलन में होने वाली सूक्ष्म हिंसा को मानव दूर नहीं कर सकता परन्तु वह असत्य को पूर्ण रूप से दूर कर सकता है।

लोग कहते हैं कि व्यवहार में झूठ बोले बिना चलता नहीं है। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि व्यवहार में सत्य के बिना चलता नहीं है। कोई मनुष्य एक दिन के लिये भी सत्य बोलने का त्याग कर दे तो उसका व्यवहार मुश्किल हो जायगा। बोरी बन्दर स्टेशन से उतर कर यदि उसे कालबादेवी जाना होगा तो गाड़ीवान से सच्चा कहना ही होगा। अन्यथा इसके बिना चलेगा नहीं। किसी को प्यास लगी हो तो उसे पानी के लिये सच बोलना ही पड़ेगा। दुकानदार से अमुक वस्तु खरीदने के लिये उसका वास्तविक नाम बताना ही पड़ेगा। नौकर को कहीं भेजना होगा तो उसको सही ठिकाना बताये बिना काम कैसे चलेगा? बैंक से रुपये मंगाते समय भी चैक पर सच्ची सही करनी ही पड़ेगी। इस प्रकार हर एक प्रवृत्ति में सत्य के बिना व्यवहार चलना कठिन हो जाता है। इससे आप समझ गये होंगे

कि जीवन का व्यवहार असत्य से नहीं, पर सत्य के बिना चल नहीं सकता है। जो लोग यह कहते हैं कि व्यवहार में असत्य बोले बिना चलता नहीं है, वे भ्रम में हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण में सत्य बोलने की आवश्यकता पड़ती है। इससे सत्य स्वाभाविक और असत्य अस्वाभाविक सिद्ध होता है अत असत्य को महारोग समझ कर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिये। विषैली गैस' से भी असत्य ज्यादा जहरीला होता है। इसीसे भगवान् महावीर ने मृषावाद' से दूर रहने का उपदेश दिया है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं। जिनका आराधक को आचरण नहीं करना चाहिये। पाँच अतिचार ये हैं — मिथ्योपदेश रहस्याभ्याख्यान,-कूट लेख क्रिया,-न्यासापहार,-साकारमंत्रभेद।' सच-झूठ समझा कर किसी को बुरे मार्ग पर लेजाना 'मिथ्या उपदेश नामक प्रथम अतिचार है। दूसरा अतिचार रहस्या भ्याख्यान' जिसका अर्थ किसी की गुप्त बात प्रकट करना है। राग के वश या विनोद के खातिर ,किसी पति पत्नी को जुदा कर देना, स्नेहियों का स्नेह भंग कर देना या किसी पर झूठा आरोप लगा देना भी रहस्याभ्याख्यान है। किसी की गुप्त बात प्रकट करने से कई बार मनुष्य अपनी इज्जत आबरू के ख्याल से आत्मघात भी कर बैठता है। इसीलिये किसी का रहस्य प्रकट नहीं करना चाहिये।

झूठे लेख लिखना कूटलेख क्रिया' है। झूठे दस्तावेज करना, खोटा सिक्का चलाना, या टैक्स बचाने के लिए झूठे बहीखाते लिखना ये सभी 'कूट लेख' में आ जाते हैं। थापण (जेवर आदि) रखने वाला यदि कोई वस्तु भूल जाय तो उसे हजम कर लेना "न्यासापहार' है। पाँचवा अतिचार

झूठी चुगली खाना है जिससे कि किसी की प्रीति कम हो जाय। इसी का नाम साकार मंत्र भेद' है।

कन्या के लिये गाय के लिये तथा भूमि के लिये असत्य न बोलना और न दूसरा से बुलाना मन वचन और काया से। शास्त्रकारों का इतना दरीज फरमान है। कन्या और गाय के लिये असत्य बोलने के इस फरमान में सभी मनुष्यों और सब तरह के पशुओं का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार छ कोटी से मृषावाद का त्याग करना चाहिये।

इस व्रत में व्यापार के लिये, पैसों के लेन-देन के लिये असत्य बोलने का निषेध किया गया है। इसी तरह अपनी सतान पुत्र या पुत्री के स्वार्थ के लिये भी असत्य नहीं बोला जा सकता है। जब अपनी सन्तान के लाभ के लिये भी असत्य नहीं बोला जा सकता है तो फिर साधारण लाभ के लिये वह कैसे बोला जा सकता है? सत्य का आराधक क्रोध, माया राग या लोभ के वशीभूत हो वचन नहीं कहता है। उसकी वाणी किसी को हानि प्रद नहीं होती है। जिस बात का उसे खबर नहीं, वह बात सत्य का आराधक नहीं बोलता है।

गृहस्थों को, पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और वनस्पति आदि जीवों की हिंसा हो, ऐसा वचन संसार-व्यवहार चलाने के लिये बोलना पड़ता है। ऐसे वचन को शास्त्रकारों ने अल्प (छोटा) झूठ कहा है। इसे झूठ का श्रावक को आगार होता है।

इस छूट का कई श्रावक बड़ा विस्तृत उपयोग करते हैं और कई बातों को 'अल्प झूठ' में शामिल कर लेते हैं। व्यापार में असत्य बोल कर हजारों रुपये कमा लेने की प्रवृत्ति को आज

कई श्रावक 'अल्प झूठ' में गिनते हैं। जहाँ २ असत्य बोलने पर भी अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो तो वहाँ असत्य बोलने में श्रावक गण प्रायः हिचकिचाते नहीं हैं और स्वार्थ सिद्धि के लिये बोले गये असत्य का 'अल्प झूठ' में समावेश कर देते हैं, परन्तु यह इनकी भूल है।

एक बार उपयोग में आई हुई एक पैसे की टिकिट का पुनः उपयोग करना गुनाह माना जाता है। पिता का रेल्वे पास पुत्र काम में लाता है तो यह भी गुनाह है। ऐसी छोटी २ बातें भी जब सरकार चलने नहीं देती है तब स्वार्थ सिद्धि के लिये बोले गये असत्य को 'छोटा झूठ' मान कर उसके प्रति उपेक्षा कैसे रखी जा सकती है ?

छोटा बालक भी यदि लिखने में काना-मात्र की भूल करता है तो उसे भी भूल समझ ली जाती है। चैक या हुंडी में छोटी-सी भूल भी चल नहीं पाती है। तब फिर सरलपूर्वक एक पाई का भी स्वार्थ सिद्धि के लिये बोला गया झूठ 'अल्प झूठ' कैसे माना जा सकता है और उसके प्रति उपेक्षा भी कैसे रखा जा सकती है ?

बिच्छू काट खाय तो क्या आप उसके डंक के प्रति उपेक्षा रख सकेंगे ? बिच्छू का छोटा-सा डंक भी बड़ी पीड़ा पहुँचाने वाला होता है, अतः आप इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। असत्य का डंक बिच्छू के डंक से भी ज्यादा भयंकर होता है। जब यह आत्मा को चुभ जाता है तब इसके प्रति उपेक्षा कैसे रखी जा सकती है ? विष थोड़ा हो या ज्यादा, आखिर तो विष ही होता है न ? मन भर दूधपाक में एक बूंद भी विष की गिर जाय तो वह सारे दूधपाक को विषमय बना देती है। ऐसा ही हाल असत्य का भी है। असत्य छोटा हो या बड़ा, विष की तरह पापमय ही होता

है। अतः शास्त्रों में बताये गये आगारों से श्रावकों को अधिक छूट इस व्रत में नहीं लेना चाहिये। श्रावकों की दृष्टि तो आगारों से भी लाभ लेने की नहीं होनी चाहिये। जैसे बन पैसे सत्य का पूर्ण पालन करना ही उनका ध्येय होना चाहिये।

इस बात सुश्रावक अरणकजी का प्रसंग सर्व विदित है। अरणकजी के सत्य की परीक्षा लेने के लिये एक देवता आया और बोला— तू अपने सत्य का त्याग कर दे नहीं तो मैं तेरा जहाज समुद्र में डुबा दूंगा।' अरणकजी के सामने एक तरफ जहाज में रक्खा हुआ करोड़ों का धन और उसमें बैठे हुए अनेक मानवों का जीवन धन था और दूसरी तरफ था सत्य। ऐसी विषम स्थिति में भी सत्य पर आरूढ़ वह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुए। आखिरकार देव उनकी दृढता को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने स्थान को चला गया।

अरणकजी जैसी श्रद्धा हर एक मनुष्य की सत्य के प्रति होनी चाहिये। परन्तु आज तो बिल्कुल विपरीत स्थिति है। कहाँ तो करोड़ों का धन छोड़कर भी सत्य पालन करने की वृत्ति और आज दो पैसों के लिये भी सत्य बेच देने की मनोवृत्ति ? दो पैसों के खातिर सत्य छोड़ देने की वृत्ति त्याज्य है और किसी भी हालत में सत्य को पकड़े रहने की वृत्ति श्रेयस्कर है, यह भूलना नहीं चाहिये।

गांधीजी जैसे महापुरुष सत्य के लिये अमेरिका की विपुल धन राशी को भी ठोकर मार सकते हैं, तब अपने को जो श्रावक कहते हैं वे आठ आने के पीछे आठ बार झूठ कैसे बोल सकते हैं ? भीलों के लिये कहा जाता है कि शपथ लेने के बाद वे मौत से बचने के लिये भी झूठ नहीं बोलते हैं। ऐसी कौम भी जब

अपने जीवन में ऐसा अच्छा आचरण करती है तब श्रावक कहे जाने वाले व्यक्ति अगर तुच्छ वस्तु के लिये भी झूठ का आसरा लेते हों तो यह क्या उचित कहा जा सकता है?

अहमदाबाद के एक प्रतिष्ठित भाई का यह प्रसंग जानने जैसा है। एक बार उस भाई का अपनी धर्मपत्नी से कुछ विचार भेद हो गया, जिससे दोनों में क्लेश हो गया। आवेश में आकर उसने अपने पास रखी हुई वस्तु को अपनी धर्मपत्नी पर फेंक दी, जिससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी और थोड़ी ही देर में उसका देहांत भी हो गया। इसके बाद वह भाई पुलिस स्टेशन गया और यह सत्य घटना कह सुनाई। पुलिस ने उस पर केस चलाया। उसके वकील ने उससे कहा - इस घटना में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अतः यदि तुम यह बयान दे दो कि मेरे हाथ से यह घटना नहीं हुई है, तो सम्भव है तुम निर्दोष छूट जाओगे। उस भाई ने कहा—मैं झूठ बोलना नहीं चाहता। सच बोलते हुए तुम अपने कानून से बचा सकते हो तो बचा लो अन्यथा निर्दोष सिद्ध होने के लिये मैं झूठ बोलने को तैयार नहीं हूँ। अपने किये हुए अपराध के लिये मुझे जो सजा होगी उसे सहने को भी मैं तैयार हूँ। कोर्ट में जब केस चला तो उसने मजिस्ट्रेट के सामने सत्य घटना कह सुनाई। इससे मजिस्ट्रेट उस पर बड़ा खुश हुआ। कानूनन दुःखित हृदय से उसने सजा तो सुनाई पर अपना निर्णय देते हुए यह लिखा कि न्यायाधीश का काम करते हुए मैंने इतने समय में ऐसा सत्यवादी मनुष्य यह पहली बार ही देखा है। इसलिये मैं सरकार से सिफारिश करता हूँ कि अब कोई खुशी का प्रसंग आवे, पहले इस भाई को रिहा किया जावे। हुआ भी ऐसा ही। कुछ समय बाद

एडवर्ड के राज्याभिषेक की खुशी में उस भाई को सजा से मु
कर दिया गया।

यह केस जब यूरोपवासियों ने सुना तो पाँच हजार मी
दूर बैठे हुए वे लोग भी इस भाई की सत्यप्रियता पर प्रसन्न
और वहाँ की कई बड़ी २ कम्पनियों ने बिना माँगे ही इस भ
को अपनी एजन्सियाँ दे दीं। फिर तो उसका व्यापार बड़े जोरों
चल निकला और थोड़े समय में ही उसकी गिनती बड़े धन-कुबे
में होने लग गई।

रावजी भाई पटेल का भी एक जीवन प्रसंग सत्यव्रत
लिये बोध पाठ लेने जैसा है। रावजीभाई के पिता मणिभाई प
को एक व्यक्ति ने मार दिया। पुलिस ने उसे पकड़ कर उस
केस चलाया। प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने पर पुलिस ने रावजीभ
को झूठे प्रमाण पेश करने को कहा। इस पर रावजीभाई ने
उत्तर दिया वह याद रखने जैसा है। उन्होंने कहा—"खून तो
पिता का हुआ है अतः मुझे जितना दुःख हो उतना दूसरे को
होना स्वाभाविक ही है। परन्तु मेरे पिता का खून करने वाले
खून कराने के लिये झूठे प्रमाण पेश कर मैं सत्य का खून क
नहीं चाहता। मनुष्य के खून से भी मैं सत्य का खून विशेष भय
मानता हूँ अतः मैं झूठे सुबूत पेश नहीं कर सकता हूँ।" यह जव
सुनकर पुलिस अधिकारी स्तब्ध हो गया था।

बंदर को पींजरे में बंद कर देने पर जैसे उसे अटपटा लग
है वैसे ही स्वच्छंदी स्वभाव वाले पुरुष को भी सत्य का से
पिंजरे के समान अटपटा लगता है। यदि सभी सत्यभाषी
जाय तो दुनिया में वकील, बेरिस्टर, सोलीसीटर, जज आदि कि

की भी आवश्यकता न रहे। कायदा-कानून और कोर्ट की भी आवश्यकता न हो। सत्य के पालन से दम्भ, ईर्षा द्वेष आदि का भी समूल नाश हो जाता है।

सत्य-रहित मनुष्य लकड़ी या पत्थर के टुकड़े की तरह है। अन्य सब पाप राई के समान हैं, जब कि असत्य का पाप पर्वत की तरह है। असत्याचरण के लिये हृदय तैयार नहीं होता है। अन्य प्रकार के पाप करने वाला शुद्ध होकर साधु अथवा आचार्य भी बन सकता है, परन्तु असत्य का सेवन करने वाला मानव कहलाने का भी हकदार नहीं होता।

असत्याचरण मनुष्य को ईश्वर से दूर कर देता है और मानव समाज को हानि पहुंचाता है। इमर्सन ने कैसा सुन्दर कहा है कि– Every violation of truth is a stab at the health of human society अर्थात् सत्य का उल्लंघन करना हर बार मानव समाज के आरोग्य को जख्मी बनाता है।

दूसरे पाप करने वाला अपने पाप को स्वीकार कर लेता है अतः वह उस पाप का ही भागीदार बनता है। परन्तु असत्य बोलने वाला इतना पाप करके भी उन्हें स्वीकार नहीं करता। इससे जहाँ अन्य व्रतों का भंग करने वाले को सुधरने का अवकाश रहता है, वहाँ असत्य बोलने वाले को तनिक भी अवकाश नहीं रहता। पाप स्वीकार किये बिना शुद्धि कैसे हो सकती है? अन्य व्रतों का भंग करने वाला तो पुनः धर्म का आराधक और अधिकारी भी बन सकता है परन्तु असत्य बोलने वाले को धर्म के लायक भी नहीं माना गया है।

असत्य और अनीति का आन्तरिक रोग फैलाने वाला मरने के बाद मक्खी तथा मच्छर आदि योनियों में

करता है। इन जीव योनियों में असत्य और अनीति द्वारा आन्तरिक भाव रोग फैलाने की शक्ति नहीं होती है अतः ये अपने जहर द्वारा शारीरिक रोग फैला कर मनुष्य के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। असत्य का ऐसा बुरा परिणाम आता है।

ठाणांग सूत्र में कहा गया है कि असत्य बोलने वाला व्यक्ति मन बुद्धि और इंद्रियों का दुरुपयोग करने से मृत्यु के पश्चात् विचार बुद्धि और वाणी रहित पशु योनि में जन्म लेता है। इससे विपरीत जो सत्याचरण करता है वह मर कर उच्च योनि में जन्म धारण करता है।

किसी मनुष्य को यदि कोई कुत्ता, कौआ, बैल, घोड़ा अथवा गधा जैसा कहे तो उसे दुःख होता है। किसी के कहने मात्र से ही कोई मनुष्य गधा या घोड़ा नहीं बन जाता, फिर भी, ऐसा कहने से मनुष्य को दुःख होता है। तब फिर जिन वचनों और कर्त्तव्यों से नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है उनके प्रति कितना अधिक दुःख होना चाहिये।

शास्त्रकारों ने तो असत्य बोलने वाले को केवल व्यवहार से ही स्थूल शरीर रूप मानव की बाह्य आकृति वाला माना है। निश्चय भाव से तो उन्होंने उसे पशु ही माना है अतः पशु योनि से बचने के लिये मनुष्य को सत्य का आराधन करना ही चाहिये।

असत्य जैसा ही चोरी का पाप भी भयंकर है। उसका फल भोगने के लिये भी मनुष्य को पशु योनि में जन्म धारण करना पड़ता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने 'मृषावाद विरमण व्रत' कह कर अदत्तादान विरमण व्रत बताया है।

सत्य समुद्र से गंभीर, मेरु से महान्, सूर्य से तेजस्वी और चन्द्र तथा चंदन से भी शीतल है। फिर भी मनुष्य उसका आचरण नहीं कर सकता है तो इसका कारण यही है कि उसे अफीम की तरह असत्य का नशा लग गया है। अफीम के व्यसनी को चाहे जैसी अच्छी से अच्छी वस्तु क्यों न दी जाय, परन्तु जैसे वह अफीम खाना नहीं छोड़ता है, वैसा ही हाल असत्य के व्यसनी का भी होता है। अफीम खाने वाले पर अफीम सवार हो जाती है। वह पराधीन और अफीम का गुलाम बन जाता है। ऐसे ही मानव भी आज असत्य का गुलाम बन गया है। शुरु में अफीम छोड़ते समय कुछ मुश्किल होती है परन्तु यदि मनुष्य दृढ़ निश्चय कर ले तो वह अफीम की गुलामी से मुक्त हो सकता है। ऐसे ही असत्यभाषी को भी प्रारम्भ में उसे छोड़ते समय कुछ कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं परन्तु यदि वह दृढ़ संकल्प कर ले तो असत्य की गुलामी से मुक्त हो सकता है।

दूसरे व्रत के पालन से और इसके अतिचारों के त्याग से दुनिया में शांति स्थापित हो सकती है। आज प्रजा का जो नैतिक पतन हुआ जा रहा है उसे दूर करने के लिए और नैतिक पुनरुत्थान के लिये इस व्रत की आवश्यकता सबसे अधिक है।

सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिये। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरों से बुलवाना चाहिये।

मृषावाद (असत्य) संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है, इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म भेदक वचन नहीं बोलना चाहिए।

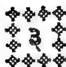


श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(३)

अचौर्य व्रत



अचौर्य-व्रत



तेल रहित दीपक का तेज क्षीण हो जाता है चाबी न दी जाय तो घडी की गति मद हो जाती है बिना उष्णता के वाष्पयन्त्र चल नहीं सकता है, और जैसे बिना भोजन के जीवन का तेज क्षीण हो जाता है वैसे ही व्रत नियम या सयम के बिना जीवन का तेज भी क्षीण हो जाता है, जीवन की गति मद हो जाती है और वह प्रगतिशील बनने के बजाय पतनशील हो जाता है। गृहस्थ के जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिये भगवान् महावीर ने बारह व्रतों की योजना कर के दुनिया पर महान् उपकार किया

है। बारह व्रतों में से आज हम तीसरे अचौर्य-व्रत का यहाँ वर्णन कर रहे हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है कि—

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंत-सोहणमेत्तं पि उग्गहंसि अजाइया॥

अजीव वस्तु हो या निर्जीव, कम हो या ज्यादा, पर मालिक की आज्ञा बिना यह भी वस्तु नहीं लेनी चाहिये। दात कुरेदने का तिनका भी बिना आज्ञा नहीं लिया जा सकता है। इस व्रत का यथार्थतः विचार करेंगे तो प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि इस व्रत का पालक ही अहिंसा और सत्य व्रत का पालक बन सकता है।

यह व्रत कहता है कि अपनी मालिकी की वस्तु को छोड़ कर दूसरी किसी की वस्तु के हाथ लगाना चोरी है। दूसरे की वस्तु को बिना उसकी अनुमति के अपने उपयोग में लाना अदत्तादान है। इस अदत्तादान का त्याग ही अचौर्य व्रत है। कई बार अख-बारों में भी देखा जाता है कि 'किसी का सोने का जेवर, नोटों का बंडल हार या अंगूठी आदि अमुक भाई को मिला है, सो जिसकी हो वे अपनी निशानी देकर ले जायं। अर्थप्रधान इस कलियुग में भी ऐसे सैकड़ों उदाहरण सुनने को मिलते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि मार्ग में पड़ी हुई दूसरे की वस्तु को अपनी समझना भी चोरी है। इस प्रकार की चोरी जैन से तो कभी हो ही नहीं सकती है। मन, वचन और काया से ऐसी चोरी को न स्वयं करना और न दूसरों से कराना, यही इस व्रत का आशय है। चुस्त आराधक तो अपने स्नेही के घर से भी उसके बिना पूछे कागज-का अथवा सुपारी का टुकड़ा भी नहीं उठाता है।

किसी भी वस्तु को बिना आज्ञा नहीं लेने का नियम इस व्रत में बताया गया है। महात्माजी ने इस व्रत के बारे में लिखा है कि जिस वस्तु की हम को आवश्यकता न हो, वह वस्तु दूसरों के पास से लेना भी चोरी है। फिर भले ही वह वस्तु दूसरों की आज्ञा से ली गई हो, पर बिना जरूरत के वस्तु लेना चोरी ही है। अमुक फल खाने की मनुष्य को आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी यदि वह उन्हें खाने लग जाय तो वह भी चोरी ही है। मनुष्य अपना स्वभाव समझता नहीं है, इसी से उससे ऐसी चोरी हो जाती है। इस व्रत के आराधक को इस प्रकार अचौर्य का व्यापक अर्थ घटाना चाहिये। जैसे २ वह इस व्रत का विशाल रूप में पालन करता जायगा वैसे २ इस व्रत की महत्ता और उसका रहस्य भी समझता जायगा।

अस्तेय का इससे भी गहरा अर्थ विचारा जाय तो प्रतीत होगा कि पेट भरने और शरीर ढकने के लिये जरूरत हो उससे अधिक संग्रह रखना भी चोरी ही है। एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक रखने लग जाय तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरों को आवश्यकता-पूर्ति के लिये भी नहीं मिल सकता। दो जोड़ी कपड़ों के बजाय यदि कोइ मनुष्य बीस जोडी कपड़े रखे तो इससे दूसरे पाँच-सात आदमियों को वस्त्र-हीन फिरना पडता है। किसी भी वस्तु का अधिक संग्रह करना चोरी है। परन्तु आज तो इन बड़े चोरों को कोइ पूछता ही नहीं है। ये खुले आम चोरी करते चले जा रहे हैं, और छोटे चोर दंडित हो रहे हैं। इसी लिये केन्टो ने जरा तीखे शब्दों में कहा है कि—'साधारण चोर और साधारण खूनी व्यक्ति जेल के सींकचों में बन्द होकर सडते ही रहते हैं जब कि बडे चोर और बड़े खूनी व्यक्ति सोना चाँदी पहनकर मौज मजा करते हैं।' इस प्रकार यदि हम देखें तो आवश्यकता से अधिक संग्रह करना भी चोरी ही है।

जो वस्तु जिस उपयोग के लिये मिली है, उसका वैसा उपयोग नहीं करना भी चोरी है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि शक्ति आदि की प्राप्ति आत्माराधना के लिये हुई है, उनका उपयोग आत्माराधना में न कर भोगोपभोग में करना यह भी सूक्ष्म दृष्टि से चोरी ही है। शरीरादि का उपयोग परमार्थ के लिये न करते हुए स्वार्थ के लिये करना भी एक तरह की चोरी ही है।

आज के हमारे विचारक कहते हैं कि जैसे चोर जन-समाज में घृणास्पद समझा जाता है वैसे ही कृपण को भी समझना चाहिये। अर्थात् चोर की तरह कृपण भी कायदे से शासित होना चाहिये। बिना मांगे या बिना पूछे कोई चीज उठा लेना बड़ा गुनाह माना जाता है वैसे ही जरूरत वाली कोई वस्तु मांगने आवे तब देने वाला उसे यह वस्तु होने पर भी नहीं दे तो यह भी नैतिक दोष समझा जाना चाहिये। उपनिषद् में अश्वपति राजा अपने राज्य की महत्ता बताते हुए एक वाक्य में कहता है कि—'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य' चोर और कृपण को यह एक ही लाईन में बैठाता है। गहरा विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि कृपण ही चोर के जनक होते हैं। अत समाज में अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा कायम करने के लिये कृपणों को अपनी कृपणता त्याग देनी चाहिये और बदले में उदारता प्रकट करनी चाहिये।

चोरी के कुल चार प्रकार होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य से चोरी करना यानी वस्तुओं की चोरी। सजीव और निर्जीव इन दोनों प्रकार की चोरी द्रव्य कही जाती है। किसी के पशु चुरा लेना [illegible]। [illegible] का अपहरण कर लेना, किसी का बालक चुरा लेना [illegible] यह सजीव चोरी

कही जाती है। सोना-चाँदी, हीरा, माणिक, मोती आदि वस्तुओं की चोरी निर्जीव चोरी है। कर या महसूल की चोरी का भी निर्जीव चोरी में समावेश होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मार्ग में पड़ी हुई ऐसी कोई निर्जीव वस्तु जिसका कोई मालिक न हो, ले लेना भी चोरी है। किसी के घर या खेत पर अनुचित रीति से अपना कब्जा जमा लेना— क्षेत्र की चोरी कही जाती है। वेतन, किराया, ब्याज आदि देने-लेने में समय की न्यूनाधिकता बताना काल की चोरी है। किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावों को लेकर अपने नाम से लिखना भाव चोरी है।

मालिक की गैर हाजिरी में ताला तोड़कर या जेब काट कर कोई वस्तु ले लेना जैसे चोरी कही जाती है, वैसे ही उन की मौजूदगी में युक्तियों द्वारा कोई वस्तु छीन लेना भी चोरी है। यह चोरी सभ्य चोरी कही जाती है जब कि पहली चोरी असभ्य। आज जन समाज का बड़ा वर्ग असभ्य चोरी करते हुए तो हिचकिचाता है, परन्तु सभ्य चोरी करने से क्या कोई हिचकिचाता है? सभ्य चोरी के इस प्रकार में से तो शायद ही कोई बचा रह सकेगा? अपनी बुद्धिमानी से दूसरों की वस्तुओं पर अधिकार जमाना और शोषण करना आदि का सभ्य चोरी में ही समावेश होता है। किसी की जेब में से यदि कोई पैसा निकाल ले तो वह सजा का पात्र होता है। परन्तु करोड़ों मानवों का शोषण कर करोड़ों रुपया एकत्रित करने वाला निर्दोष समझा जाता है यह कैसा अंधेर है? भले ही पीनल कोड में इसकी कोई कलम न हो परन्तु धर्म शास्त्र तो कहते हैं कि यह चोरी ही नहीं, महा-पाप है।

ठगाई करना भी चोरी है। एक लेखक ने लिखा है कि 'He who purposely cheats his friend, would cheat

his God अर्थात् जो व्यक्ति अपने मित्र को ठगता है, वह एक दिन ईश्वर को भी ठगेगा। दूसरे एक लेखक ने लिखा है कि— Dishonesty is a forsaking of permanent for temporary advantages अर्थात् अप्रामाणिकता बताना या चोरी करना, यह क्षणिक लाभ के लिये शाश्वत श्रेय को गुम कर देने जैसा है।

अपने हक के अतिरिक्त की वस्तु चाहे जिस प्रकार से ले लेना चोरी है। कोई सरकारी नौकर किसी का काम करके उसके बदले में रिश्वत या इनाम ले तो यह भी चोरी है। आढ़त दलाली मकान का किराया, नफा, रुपयों का व्याज आदि मर्यादा से अधिक लेना या दूसरी तरह से शोषण करना— मूर्ख लोगों को समझा-बुझाकर उनके घर या खेतों पर अपना कब्जा कर लेना भी चोरी है। सामने वाला आदमी भूल से अधिक दे जाय तो वह रख लेना भी चोरी है। भागीदार को बिना बताये दूसरा अपना स्वतन्त्र धन्धा करना भी चोरी है। किसी दूसरे की रकम को अपने नाम से दान जाहिर करना भी चोरी है।

अपने असाध्य रोग की खबर होने पर भी बीमा करना यह भी एक तरह की चोरी ही है। अपने रोग को छुपा कर वह बीमा वाले को ठगता है। डाक्टर को रिश्वत देकर भूठा सार्टिफिकेट प्राप्त करता है। अत ऐसी चोरी से भी बचना चाहिये। बंगाल में एक सद्गृहस्थ का प्रसंग है—उसने एक बार अपना बीमा करवाया और पहला प्रीमियम भी भर दिया। उसके बाद उसे यह पता चला कि उसे 'मधु प्रमेह' का रोग है। यह जानते ही उसने बीमा कम्पनी को पत्र लिखा कि 'मुझे 'मधु प्रमेह' का

रोग है अत मेरा बीमा कैन्सल कर देना ।' उसके मित्रों ने ऐसा करने से मना किया, पर वह न माना । उसने कहा—यदि मैं यह बात बीमा कम्पनी को न बताऊं तो मैं उसका चोर बनूं और इस चोरी का धन मेरी सन्तानों को मिले । इससे तो मेरी सन्तानें मजूरी करके अपना पेट भरें, यही मैं ज्यादा अच्छा समझता हूँ । यह सुन कर उसके मित्र भी उसके त्याग की प्रशंसा करने लगे ।

एक बार जब हम विहार में थे, तब एक छोटे से गाँव म रात को चोर आये । ये चोर अनाज चोरने आये थे । चोरों की आवाज से सारा गाँव जग पड़ा और लकड़ी तथा बन्दूकें लेकर चोरों का पीछा किया । सब चोर भाग गये, पर एक चोर पकड़ा गया । जिसे उन्होंने हमारे बाजु के कमरे में हाथ पाव बांधकर डाल दिया और ऊपर से ताला भी लगा दिया । इतना बन्धन होने पर भी पाँच-सात आदमी पहरा देने के लिये वहाँ लकड़ी लेकर बैठ गये । चोर को इतनी मजबूती से बांधा गया था कि वह इसे सहन कर न सका और चिल्ला चिल्ला कर कहने लगा कि मेहरबानी कर मेरे ये बन्धन ढीले कर दो मुझे तलवार से मारना चाहो तो मार दो पर इन बन्धनों को खोल दो इनका दुःख मुझ से सहन नहीं हो रहा है । सारी रात वह इसी प्रकार चिल्लाता रहा, पर किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया । यह सच है कि समाज मे चोर घृणास्पद माना जा रहा है और इसी से उसे सजा भी दी जाती है परन्तु जो यन्त्रों के बल से गरीबों की आजीविका चुरा लेते हैं । उन्हें समाज साहूकार कैसे मानता है ? क्या वे, पानी भरने वालों की, चक्की पीसने वालों की आजीविका चुरा नहीं लेते हैं ? फिर भी इन यन्त्रो द्वारा लूट मचाने वालों के लिये न कोई कोर्ट कचहरी है और न किसी तरह

की पाबन्दी ही रखी गई है। क्या यह शिक्षित समझे जाने वाले समाज के लिये लज्जास्पद नहीं है? ताश के पत्तों से एक पा का जुआ खेलने वाला भी सब जुआरी माना जाता है, त बाजारों में लाखों की हार-जीत करने वाला साहूकार कै माना जा सकता है? वास्तव में देखा जाय तो आज समाज में चोर और साहूकार की पहिचान यथार्थतः देखने में आती ही नहीं है।

आजकल समाज में चोरियाँ बढ़ती जा रही हैं। पाप चोर करने वाले को तो लगता ही है परन्तु परोक्ष रूप में वे मनुष्य भ इस पाप के थोड़े भागीदार बनते हैं जो समाज की परिस्थिति की तरफ ध्यान नहीं देते हैं। आज एक तरफ कारखाने बार पैदा कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ उद्योगपति और श्रीमन्तों व शोषणनीति और संग्रहवृत्ति प्रतिदिन नये नये चोरी के तरी पैदा कर रही है।

मालवा का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है। धारा नगरी सेठ जिनदास एक बार धर्मस्थानक में सामायिक करने गये धर्मस्थानक में आकर उन्होंने अपने वस्त्र उतारे और साथ पर कीमती हार भी उतार कर वस्त्रों में रख दिया। फिर वे सामा यिक करने बैठ गये। यह सब एक गरीब वणिक देख रहा था उस के स्त्री-बच्चों को तीन दिन से खाने को नहीं मिला था। इ लिये उसने विचार किया कि 'यदि मैं यह हार ले लू तो कोई इस पर मुझे रुपये दे सकेगा और मैं उन रुपयों से धधा क अपनी आजीविका सुख से चला सकूंगा। जब मेरे कुछ अच्छ दिन आ जावेंगे तब यह हार छुड़ा कर वापिस सेठजी को दिय जा सकेगा। पक्षी सरोवर में से पानी पी जाय तो जैसे सरोव

का पानी घटता नहीं है वैसे ही सेठजी के अखूट धन में से यदि मैं यह हार ले लूँगा तो वह कुछ कम होने वाला नहीं है। फिर, मैं इसे हजम करना तो नहीं चाहता हूँ मुझे तो यह हार वापिस ब्याज सहित दे देना है। ऐसा सोच कर उसने सेठ का हार निकाल लिया और चलता बना। घर आकर उसने अपनी स्त्री से बात कही और उसकी सलाह से उसने वह हार सेठ जिनदास के यहाँ ही गिरवी रखने का निर्णय किया।

सेठ सामायिक करके उठे तो हार मिला नहीं। उन्होंने सोचा शायद घर पर ही रह गया होगा। वे घर आये और वहाँ शोध की। परन्तु हार मिला नहीं। उनकी लड़की ने कहा—हार तो आप पहिन कर ही स्थानक में गये थे। सेठ विचार में पड़ गया। उपाश्रय में तो सिवाय एक वणिक के और कोई नहीं था। क्या वह हार उठा ले गया होगा? सेठ इसका विचार कर ही रहे थे कि इतने में वह वणिक हार लेकर सेठ के पास आया और उसे गिरवी रख कर ब्याज से रुपये देने की प्रार्थना करने लगा। सेठ धनवान् ही नहीं बुद्धिमान् भी था। वे सारी परिस्थिति समझ गये। उन्होंने कहा—'भाई! हार गिरवी रखने की कोई जरूरत नहीं है। रुपये चाहिये तो यों ही अभी उधार ले जाओ।' 'यह भाई बिना हार गिरवी रखे रुपये लेना नहीं चाहता था अन्त में सेठ ने हार रख कर उसे रुपये दे दिये।

उसके चले जाने पर सेठ ने विचार किया कि 'उसने हार चुरा लिया इसमें उसका दोष नहीं है, यह तो मेरा ही दोष है। मैं जाति का सेठ कहा जाता हूँ तो हर एक जातिभाई की परिस्थिति का मुझे ज्ञान होना चाहिये। यदि कोई बेकार है तो उसे किसी भी तरह का काम देने के लिये मुझे जागृत रहना चाहिये। —इस तरह सेठ खुद ही पश्चात्ताप करने लग गये।

उस भाई ने प्रामाणिकतापूर्वक धन्धा शुरू कर दिया। व्यापार ठीक चल निकला और कुछ ही समय में उसने काफी पैसे भी जमा कर लिये। अब उसे सेठ के रुपये रखने की आवश्यकता नहीं थी अतः एक दिन वह रुपये चुकाने के लिये सेठ के पास गया। सेठने उससे रुपये ले लिये और उसका हार उसे वापिस सौंप दिया। उस भाई ने कहा—सेठजी! यह हार तो आपका ही है। विषम परिस्थिति में मैं अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भान भी भूल गया था और आपका हार उठा लिया था। अब वह मुझे वापिस लौटाने का नहीं है।

सेठने कहा—भाई, यह हार अब मेरा नहीं रहा है। क्योंकि जब मैं सामायिक में था तब तुमने मेरा यह हार लिया था उस समय मैं सभी वस्तुओं का त्याग करके बैठा था, इस हार पर भी मेरा स्वामित्व नहीं था अतः यह हार मेरा नहीं कहा जा सकता है।

अन्त में जब दोनों में से कोई भी उसे रखने को तैयार नहीं हुआ तब उस हार का मानव-सेवा के कार्य में दान कर दिया गया।

एक बार एक ज्ञानी मुनिराज का वहाँ पधारना हुआ। जिनका व्याख्यान सुनने के लिये धारा नगरी की प्रजा काफी संख्या में एकत्रित हुई थी। मुनिश्री ने व्याख्यान देते हुए कहा—मनुष्य से भूल हो जाना स्वाभाविक है परन्तु अपनी भूलों के लिये पश्चात्ताप करने से तथा पापों का प्रायश्चित्त करने से वह अपने पाप के भार को हल्का कर शुद्ध बन सकता है।

यह वचन सुनकर हार ले जाने वाला वणिक खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर मुनिराज से प्रार्थना करने लगा—

गुरुदेव ! मेरे से एक पाप हो गया है जिसका प्रायश्चित्त मैं आप से लेना चाहता हूं। मैंने अपनी विषम परिस्थिति से परेशान होकर तथा स्त्री-बच्चों को कई दिवस भोजन तक नहीं मिल सकने से सेठ जिनदास का एक सोने का हार उन की बिना आज्ञा के उठा लिया था। इस लिये मुझे इसका प्रायश्चित्त दीजियेगा, गुरुदेव !

यह सुन कर उसकी पत्नी खड़ी हुई और बोली-गुरुदेव ! मेरे पति को प्रायश्चित्त देने से पूर्व मुझे प्रायश्चित दीजियेगा, क्योंकि उस पाप का निमित्त मैं ही हू। यदि मैंने विलासी वस्त्राभूषणों के पीछे फिजूल खर्च न कर सामाजिक खराब रूढियों के पालन का दुराग्रह न रखा होता तो मेरे पतिदेव के लिये ऐसा प्रसग ही उत्पन्न नहीं होता। अत पाप की जुम्मेवार मैं ही हूँ, मुझे प्राय श्चित्त देकर शुद्ध बनाइये।

इतने में जिनदास सेठ ने खडे होकर कहा- महाराज ! मुझे भी प्रायश्चित्त दीजिये। क्योंकि इस पाप में मेरा भी जवाबदारी कुछ कम नहीं है। संघपति के नाते मुझे सब जाति बधुओं का ध्यान रखना चाहिये था। परन्तु मैं अपना यह कर्त्तव्य भूल गया इसी से इस भाई को विवश होकर यह करना पड़ा। खराब रूढियों क लिये भी श्रीमन्त वर्ग ही जवाबदार है। यदि हम ही ऐसी कुरूढिया को बंद कराने में पहल करें तो गरीबों पर व्यर्थ का बोझ न पडे और उनकी स्थिति विषम न हो अत मुझे भी इसके लिये प्रायश्चित्त दीजियेगा।

धारा नगरी के नरेश भी व्याख्यान में उपस्थित थे। यह सब सुनकर उन्होंने कहा- महाराज ! मेरे राज्य में होने वाले पापों का जवाबदार मैं ही हू। प्रजा को संस्कारी और शिक्षित नहीं

बनाने से कुरूढियों पर प्रतिबंध नहीं लगाने से तथा बेकार-आदमियों की तरफ असावधानी रखने से ही समाज में ऐसे पाप बढ़ते जाते हैं। इन सब के लिये मैं ही जवाबदार हूं अतः आप मुझे प्रायश्चित दीजियेगा।

अन्त में मुनि ने कहा—भाइयो ! आप सब के अपराधों से भी मेरा अपराध बड़ा है। क्योंकि मैंने कभी सच्ची परिस्थिति बताने का और उसे सुधारने का प्रयास ही नहीं किया है। अपनी मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये आज तक मैंने झूठे आडम्बरी और आश्चर्यजनक उत्सव कराने में ही अपना समय तथा शक्ति का दुरुपयोग किया है अतः प्रायश्चित्त का सच्चा अधिकारी तो मैं ही हूँ।

सुतराम् मुनिराज, धारानरेश निनदास सेठ वणिक और उसकी धर्मपत्नी क्रमशः अपनी २ भूलों के लिये प्रायश्चित्त ले शुद्ध बनते हैं।

बहने वाली हवा सब के लिये है, सब उसका उपयोग कर सकते हैं। उस पर कोई अपना अधिकार जमा कर दूसरों को श्वास नहीं लेने दे तो कहिये कैसी अव्यवस्था फैल जाय ? नदी का बहता नीर सब की तृषा शांत करता है। पशु-पक्षी, मानव आदि सभी अपनी २ इच्छानुसार अप्रतिबंध रूप से नदी के नीर का उपयोग करते हैं। फिर भी कोई मनुष्य उस पानी पर अपना अधिकार जमा कर अन्य पशु-पक्षियों को वह पानी न पीने दे तो ? वन के फल-फूल और घास का पशु-पक्षी अपनी क्षुधा अनुसार उपयोग करते हैं, उसमें किसी भी तरह का प्रतिबंध नहीं है। वृक्ष की छाया का उपयोग सभी एक समान ही करते हैं। इस पर कोई अपना ताला नहीं मारता है। इस तरह जैसे हवा, पानी आदि कुदरती

चीजों पर कोई अपना अधिकार जमावे तो दुनिया में अव्यवस्था फैल जाती है और जीना कठिन हो जाता है, वैसे ही धन धान्य आदि वस्तुओं पर भी किसी का विशिष्ट अधिकार नहीं होना चाहिये। उनके उपयोग का भी सब को समान अधिकार होना चाहिये। जब से मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाया है तभी से दुनिया में अव्यवस्था पैदा हुई है। जो वस्तु प्रकृति उत्पन्न करती है उस पर अपना अधिकार कर बैठना चोरी नहीं तो और क्या है? आज आप सब 'मालिकी हक और अधिकार' का दुनिया में रह रहे हैं अतः आपको मेरा यह कथन ज़रा कठोर प्रतीत होगा, परन्तु पशु-पक्षी की तरह जब तुम्हारा जीवन स्वाभाविक और मालिकी हक बिना का बनेगा तब तुम्हें इन प्राकृतिक वस्तुओं पर अधिकार जमाने की बातों पर हंसी आये बिना नहीं रहेगी।

बीमार का दर्द मिटाने के लिये चिकित्सक को पहले बीमारी का विचार करना पड़ता है। जैसे कारण जाने बिना रोग का निदान बराबर नहीं हो सकता है और न रोग ही मिटाया जा सकता है। वैसे ही आज समाज में चोरी का रोग बढ़ गया है। उसे अगर दूर करना है तो चोरी करने की बढ़ती हुई मनोवृत्ति का मूल शोधने की आवश्यकता है। चोरी का अन्तरंग कारण खोजेंगे तो, प्रतीत होगा कि उसका मूल इस बढ़ती हुई द्रव्य लोलुपता में ही रहा हुआ है। जिसके पास आज ५० रुपये हैं वह १०० रु कमाने की फिराक में है। सौ रुपये वाला हजार और दस हजार वाला एक लाख करने की लालसा में फंसा हुआ है। पैसों की इस दौड़धूप में मनुष्य नीति और प्रामाणिकता को भी भूल

अचौर्य व्रत के आदर्श पर चलने वालों के पवित्र उदाहरण आज भी हमको कभी २ मिल जाते हैं। कुछ महिनों पूर्व की यह बात है, अमरावती के एक श्रीमन्त गृहस्थ अपने काम-काज के लिये बम्बई आये थे। वे सुबह से शाम तक बम्बई में उपनगरों और बाजारों में मोटरटैक्सी द्वारा फिरते रहे और शाम को अपने निवास स्थान – माधवाश्रम में आ गये।

मोटर चली गई तब उन्हें याद आया कि पाकिट तो मोटर में ही रह गया है। पाकिट में १० हजार रुपये व नोट और कुछ जरूरी कागजात भी थे। टैक्सी का नम्बर या ड्रायवर का नाम वे जानते नहीं थे अतः किसी तरह की जाँच नहीं की जा सकती थी।

टैक्सीवाला भी सीधा घर चल पड़ा। उसने मोटर गैरेज में रखी और घर चल दिया। सुबह जब वह मोटर धोने लगा तो उसकी नजर पाकिट पर पड़ी। उसने तुरन्त उसे उठाया और अपने घर में इष्ट देव की मूर्ति के सामने रख दिया। फिर माधवाश्रम में फोन कर उस भाइ को बताया कि कल टैक्सी में ही पाकिट रह गया था। मैंने तो अभी उसे देखा है आपको उसकी चिन्ता में रात भर नींद नहीं आइ होगी। अब आप चिंता न करें, मैं अभी पाकिट लेकर आता हूँ।

गृहस्थ की खुशी का ठिकाना न रहा। उसने कहा– मुझे अपना पता दो मैं ही तुम्हारे यहाँ आता हूँ।

वह गृहस्थ टैक्सी वाले के यहाँ गये और अपना पाकिट ले कर टैक्सी वाले को ५०० रु० देने लगे।

टैक्सी वाले ने कहा—इसमें मैंने आप पर उपकार नहीं किया है। मैंने तो केवल अपना कर्त्तव्य अदा किया है। इस के लिये पाँचसौ रुपये लिये जा सकते हैं भला ?

टैक्सी वाले ने रुपये वापिस दे दिये। अन्त में गृहस्थ ने अत्याग्रह से उसे १०० रु का एक नोट दिया और वापिस अपने स्थान पर चले आये।

कहिये ! टैक्सी वाले की अचौर्यवृत्ति कैसी रही ? दूसरे की वस्तु को कुछ समय के लिये भी अपने अधिकार में नहीं रखने की भावना से ही उसने वह पाकिट जब तक मालिक न आवे वहाँ तक अपने इष्टदेव के चरणों में रख दिया था। अचौर्यवृत्ति का यह कितना बड़ा आदर्श है ?

चोर भी जब सुधर जाते हैं, तब श्रीमन्त क्या अपनी मनोवृत्ति को नहीं बदल सकते हैं ? जर्मनी का एक चोर किसी श्रीमन्त के यहाँ चोरी करने गया। परन्तु घर में प्रविष्ट होते ही उसे यह विचार आ गया कि मेरा यह धंधा नीच है, मुझे यह छोड़ देना चाहिये। उसने पुलिस स्टेशन पर फोन किया कि मैं यहाँ चोरी करने आया हूँ, अतः तुम आकर मुझे पकड़ लो।

इस प्रकार एक चोर को भी चोरी करने के स्थान पर सद्बुद्धि सूझती है। साहूकारों को अपनी पेढी पर, अपने धर्मस्थानों पर, सद्बुद्धि सूझ करे तो कितना अच्छा हो ? वर्तमान में काला बाजार, इन्कमटैक्स, सेलटैक्स आदि की चोरी पकड़ने के लिये सरकार को करोड़ों रुपयों का खर्च करना पड़ता है। इनमें व्यय होने वाले समय और शक्ति का देशोद्धार के लिये उपयोग किया जा सके तो प्रजा आजादी का वास्तविक अनुभव कर सकती है।

इस व्रत के अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार हैं—'स्तेन प्रयोग-तदाहृतादान विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिक मानो मानप्रतिरूपकव्यवहारा ।

स्तेन प्रयोग—किसी को चोरी करने की प्रेरणा देना अथवा उसके काम में सहमत होना इस अतिचार का दोष है। काला बाजार से चोरी का अनाज लेकर किसी ने जीमनवार किया हो, उसमें जीमने जाना भी चोरी में सहमत होने जैसा ही है। कई मनुष्य लग्नादि प्रसंग पर रूढ़ियों के वशीभूत हो अथवा बड़े घर की बड़ी रीत के वशीभूत हो जीमनवार करते हैं और अज्ञानी मानवों की वाहवाही सुनने के लिये कालाबाजार करते हैं। काला बाजार की वस्तु खरीदने वाला स्वयं तो पाप का भागीदार बनता ही है पर साथ ही साथ कालाबाजार करने वाले को भी इससे उत्तेजन मिलता है। चोरी किसी एक मनुष्य ने की हो, फिर भी उस काम में किसी भी तरह भाग लेने वाला दोषी माना गया है। इस प्रकार शास्त्रकारों ने १८ प्रकार के चोर कहे हैं। कालाबाजार से वस्तुओं की बिक्री करने वाले खरीदने वाले, रसोई करने वाले, जीमनेवाले इस कार्य की प्रशंसा करने वाले, ये सभी कम ज्यादा अंश में चोरी के पाप के भागीदार कहे जाते हैं।

तदाहृतादान—चोर की चुराई हुई वस्तुएँ लेना तदाहृतादान है। चोरी की हुई वस्तु हमेशा सस्ती ही बेची जाती है, जिससे लेने वाले का दिल भी ललचाता है। कोई शक्कर चावल या अन्य राशन की वस्तुएँ चोरी करके लाया हो और आप उन्हें खरीदें तो उसमें यह अतिचार लगता है।

विरुद्ध-राज्यातिक्रम—प्रजा के हित के लिये सरकार ने जो कायदे बनाये हों, उनका भंग करना 'विरुद्ध राज्यातिक्रम' है।

अगर प्रजा इस अतिचार दोष से मुक्त रह तो सरकार को प्रजाहित के कार्य करना सरल बन जाय।

हिनाधिक मानोमान—कम ज्यादा तोल से माप रखना या न्यूनाधिक देना इस अतिचार में आता है। आपकी दुकान पर समझदार या नासमझ वृद्ध या बालक चाहे कोई भी वस्तु खरीदने आवे तो आपको उनके साथ प्रामाणिकता का ही व्यवहार रखना चाहिये। अप्रामाणिकता का भी समय चोरी में शुमार होता है। अनजान मनुष्यों से अधिक भाव लेना साहूकारी ठगाई है। ऐसी चोरी दिल की चोरी है। चोरी चाहे दिन की हो या रात की चोरी ही कही जाती है। चोर उजला हो या मैला काला हो या सफेद, परन्तु जो चोरी करता है वह चोर ही कहा जाता है।

प्रतिरूपक-व्यवहार—वस्तु में भेल-सेल करना या असली वस्तु के बजाय नकली वस्तु बनाकर बेचना 'प्रतिरूपक व्यवहार है जो कि पाँचवा अतिचार है। आज, लगभग हर एक चीज में भेल-सेल देखा जाती है।

घी के व्यापारी घी म वनस्पति का मेल करते हैं। दूध वाले दूध में पानी डालते हैं। शकर में आटा डाला जाता है। कपड़ा धोने के सोडे में चूना मिलाया जाता है। जीरा और अजवाइन में भी रंग की मिट्टी मिलाई जाती है। जीरा में किस प्रकार मिलावट की जाती है इस सम्बन्ध में अभी एक लेख कुछ दिनों पहले हरिजन सेवक में प्रकाशित हुआ था। घास को जीरा के आकार में काटने के कई कारखाने चलते हैं। जीरे की आकार में घास के टुकड़े किये जाते हैं और फिर उन पर गुड़ का पानी छिड़का जाता है। इस प्रकार नकली जीरा तैयार किया जाता है, जो थैली में भरकर असली जीरे के नाम से बेचा जाता है।

घास के तेल में शुद्ध किया हुआ गन्ध रहित वासलेट का
मिलाया जाता है। खाद्य पदार्थों में इस प्रकार ज़हरीली वस्तु
का सम्मिश्रण करना कितना भयंकर काम है? क्या यह नै
पतन की पराकाष्ठा नहीं है? कालीमिर्च के भाव बहुत बढ़
से व्यापारी लोग उनमें पपीते के बीजों का सम्मिश्रण करने
गये हैं। गेहूँ, चावल, चना आदि में भी उसी रंग के कंकरों
मिश्रण किया जाता है। इस प्रकार जो हिन्द नैतिक दृष्टि
विदेशों में सबसे ऊँचा समझा जाता था वही आज सबसे नी
समझा जाने लगा है। दवाएँ भी नकली बनने लग गई हैं।
डाक्टर कहते थे कि सीवामौल की गोलियों के बदले दव
व्यापारी चाक की गोलियाँ बेचने लग गये हैं। इसी प्र
टाइफाइड का प्रसिद्ध गोलियाँ क्यूरो माइसान भी नकली मि
लग गई हैं। जब इन गोलियों की कीमत बहुत बढ़ गई थी
इनकी खाली शीशियाँ ही ४० रु० में बेची जाती थीं। जि
नकली गोलियाँ भरी जाती थीं और फिर उन्हें असली दव
भाव में बेची जाती था। कहिये, नैतिक पतन की भी कोई सी
रही है? बीमार मनुष्यों के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में
जहाँ इस तरह मिश्रण किया जाता हो तो कहिये, यह हिन्द
धर्मप्रधान देश के लिये लज्जास्पद नहीं है?

दैनिक या मासिक पत्रों में विज्ञापन छपाकर, वस
में जो गुण न हों उनका अतिशयोक्ति पूर्ण उल्लेख करना
इस अतिचार में आ जाता है।

इन अतिचारों का यदि आम प्रजा त्याग कर दे तो
पर स्वर्ग उतारा जा सकता है। इन सभी अतिचारों से
बचने में ही सदा श्रेय रहा हुआ है।

श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(४)

ब्रह्मचर्य-व्रत

प्रतीत होता है।
या जाय तो यह
रना आसान है,
होता है। परन्तु
में सहायभूत न
सकती है।

लियाँ प्राप्त की
है। एकबार य
। वहाँ उसकी
से खड़े २ ही
सन के साथ
के ही उद्धा
पुस्तक प[illegible]
पहले। यह
ने कहा—
अध्याय
बालक
लाईन
तो सारा
उन्हें कहाँ
न उन्हें कहाँ
से ही
यों में

४

ब्रह्मचर्य-व्रत

वास्तव में जब भाप इकट्ठी की जाती है तब उसमें बड़ी
[illegible] आ जाती है। [illegible] रेल गाड़ियाँ और जल-जहाज जो
[illegible] चल रहे हैं वे इस भाप की शक्ति से ही चल
[illegible]। परन्तु यदि उस भाप को वाष्पयंत्र में इकट्ठी न की जाय
[illegible] रहती है [illegible] अपना अस्तित्व भी गँवा देती है।
[illegible] शक्तियों का भी है। [illegible] भी [illegible]
[illegible] हैं वे तहस-नहस हो जाती हैं।
[illegible] है। आन्तरिक शक्ति को कायम

संयम की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के भंग से आत्मिक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं जब कि इन्द्रियों के संयम से शक्तियों का संयम होता है, जिसके द्वारा महान् और अद्भुत कार्य किये जा सकते हैं अतः ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना बड़ी महत्वपूर्ण और आवश्यक है।

सदाचार का पालन ही मानव-जीवन की आधार शिला है। मनुष्य के पास विद्वत्ता हो या न हो उसके पास लक्ष्मी हो या न हो, परन्तु उसके पास चारित्र्य तो अवश्य होना ही चाहिये। स्पेन्सर के शब्दों में कहें तो Not education but character is man's greatest need and man's greatest safeguard अर्थात् शिक्षण नहीं पर चारित्र्य ही मनुष्य की सब से बड़ा आवश्यकता है और यही उस का रक्षक भी है। एक दूसरे विद्वान् ने कहा है कि– Character is a diamond that scratches every Other diamond अर्थात् चारित्र्य एक हीरे की तरह है जिसके द्वारा दूसरे पत्थर भी तोड़े जा सकते हैं। इसका आशय यह है कि सभी बलों को चारित्रबल परास्त कर सकता है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि—

मूलमेयमहम्मस्स, महा दोष समुस्सयं।
तम्हामेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

इन्द्रियों का असयम अधर्म का मूल है। अब्रह्मचर्य महान् दोषों का समुदाय है, अतः साधक पुरुष को अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिये। ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म की यानी सत्य या आत्मा की शोध में चर्या करना।

इस व्रत का पालन मनुष्य को दुष्कर प्रतीत होता है। परन्तु यदि दृढ मन से इस व्रत का पालन किया जाय तो वह दुष्कर नहीं है। शरीर से इस व्रत का पालन करना आसान है पर मन से इसका पालन करना अवश्य कठिन होता है। परन्तु मन पर अंकुश रखा जाय और उनकी प्रवृत्तियों में सहायभूत न बना जाय तो अन्त में मन पर भी विजय पाई जा सकती है।

चारित्र्य द्वारा बौद्धिक तथा आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। स्वामी विवेकानन्द का यह प्रसंग है। एकबार व जर्मन पण्डित डायसन के यहाँ भोजन करने गये थे। वहाँ उसकी टेबल पर एक पुस्तक पड़ी हुई थी। स्वामीजी ने उसे खड़े २ ही थोड़ी देर में सारा देख डाली। और फिर वे डायसन के साथ बातें करने लग गये। बातचीत में जब वे इस पुस्तक के ही उद्धरण कहने लगे तब डायसन ने पूछा आपने यह पुस्तक कब पढ़ी है? विवेकानन्द ने कहा—अभी थोड़ी ही देर पहले। यह सुन कर डायसन को बड़ा आश्चर्य हुआ। विवेकानन्द ने कहा—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, मैं तो अध्याय के अध्याय ही एक साथ पढता हूँ।' आपने देखा होगा कि छोटा बालक एक एक अक्षर पढता है पर बड़े आदमी की नजर में सारी लाइन एकदम समा जाती है। परन्तु विवेकानन्द की आँखें तो सारा पेरिग्राफ ही एकदम पढ़ सकती थीं। कहिये यह शक्ति उन्हें कहाँ से मिली? कहना ही पड़ेगा कि इस शक्ति की प्राप्ति उन्हें ब्रह्मचर्य से ही हुई थी। इन्द्रियनिग्रह और मन के संयम से ही ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है। लोकमान्य तिलक की आँखों में जैसी तेजस्विता था वैसी तेजस्विता भी भाग्य से ही किसी की आँखों में होती है। ऐसी तेजस्विता भी संयम से ही प्रादुर्भूत होती है। एक समय एक बहिन लोकमान्य तिलक के पास अपनी

के लिये आई। लोकमान्य ने उसकी बात सुनी और अर्जी लिख कर दे दी। परन्तु उन्होंने आंख उठा कर भी ऊपर नहीं देखा कि वह बहिन कौन थी? महात्माजी ने छत्तीस वर्ष की उम्र से ब्रह्मचर्य का पालन करना शुरु किया था और इसके बल से ही वे चालीस करोड़ की प्रजावाले महान् देश की स्वाधीनता प्राप्त करने में सफल बन सके थे।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप में विचरण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का व्रत सदाचार के लिये है और सदाचार ही जीवन की नींव है। ब्रह्मचर्य के भंग से वीर्य का नाश होता है जिससे मनुष्य वीर्यहीन पुरुषार्थ हीन और बल हीन बन जाता है। पुरुषार्थहीन प्रजा धर्म का आचरण नहीं कर सकती है। अशक्त प्रजा देश का उद्धार भी कैसे कर सकती है? इस प्रकार बलहीन प्रजा से कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता है। इन सब बलों का आधार ब्रह्मचर्य के ऊपर ही रहा हुआ है।

ब्रह्मचर्य पालन के लिए अधिक से अधिक संयमी जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता रहती है। विकारों से बचने के लिये विलासी वातावरण से दूर रहना चाहिये। अपने घरों में विकारोत्तेजक चित्र नहीं रखने चाहिये। इस तरह के खान पान वार्तालाप, साहित्य पठन और संगीत श्रवण से भी दूर रहना चाहिये। विज्ञान के इस युग में दीपक पर जैसे पतंगे गिरते हैं वैसे ही सिनेमा और नाटकों के पीछे लोग पड़े हुए हैं। नाटक और सिनेमा के दृश्य संयमी जीवन के लिये लगभग निन्यानवें टका बाधक सिद्ध होते हैं। इस व्रत की आराधना करने वालों को स्त्री-पुरुषों का स्पर्श हो ऐसे भीड़ भड़क्के में नहीं आना चाहिये। रेल्वे, ट्राम या बस से मुसाफिरी करते समय भी इस बात की

सावधानी रखनी चाहिये। जिनके विचारों में पवित्रता हो, वाणी में संयम हो और व्यवहार चारित्र्यशील हो उनका सहवास ही ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक बनता है।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियों के अलग २ विषय हैं। इन विषयों के आधीन होने वाला प्राणी महान् दुःखों का उपार्जन करता है। उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्ययन में आता है कि '*खाणि अणत्थाण उ कामभोगा*' अर्थात् कामभोग अनर्थों की खान हैं। इन पांच विषयों में से किसी एक के वशीभूत हो जाने पर भी जिन्दगी का भोग देना पड़ता है, तो जो सब विषयों के आधीन हो जाय उसकी क्या स्थिति होती होगी? शब्द के वशीभूत हो सर्प मदारी के हाथ में आकर पराधीन बन जाता है। रूप के वश में होकर पतंगा अग्नि पर गिर पड़ता है और जल कर नष्ट हो जाता है। हाथी कागज की बनी हथिनी को स्पर्श करने के मोह में खाई में गिर पड़ता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। रस के आधीन हो मछलियाँ जाल के काँटा में अपना शरीर पिरो देता हैं। वे सब प्राणी शब्दादि विषयभोगों को भोगने से पहले ही भोग के भोग हो जाते हैं। एक ही विषय के आधीन बनने वाले की भी जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब पाँचों ही विषयों के जो आधीन बन कर अठारह पापों का सेवन करने लग जाते हैं उनकी कैसी करुणाजनक स्थिति हो जाती होगी? दूसरे के गुलाम बन जाने पर मानव को जितनी शर्म होती है उससे भी अधिक शर्म विषय-कषाय के गुलाम बन जाने पर होनी चाहिये। क्योंकि दूसरों की गुलामी तो शारीरिक विकास को ही रोकती है जब कि विषय-कषाय की गुलामी तो आत्मिक विकास को भी अवरुद्ध कर देती है और इससे आत्मा अवनति की तरफ चला जाता है।

और अप्राकृतिक कर्म करना ये चौथे व्रत के पाँच अतिच
जिनसे ब्रह्मचर्य के साधक को अहनिश दूर ही रहना चाहिये।

जैन युवक और युवतियों को क्रमश २० और १८
तक अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। जैन गृहस्
दूज आठम ग्यारस और चतुर्दशी के सिवाय आपाली च
पर्युषण पर्व के आठ दिन कार्तिकी चौदस और फाल्गुनी चत्
को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। उसे आसोज और
मास की दोनों आयम्बिल की ओलिया म भी नौ-नौ दि
पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। कृत्रिम उपायों से
पर संयम से ही गृहस्थों को संततिनियमन करना चाहिय।

विवाहित जीवन में भी दंपति चाहें तो पूर्ण ब्रह्मच
पालन कर सकते हैं। इसका उज्ज्वल उदाहरण विजयकुमार
विजयाकुमारी का है। विजयकुमार कौशंबी नगरी के धनसा
का पुत्र था। वह शरीर से सुन्दर, बुद्धि से तीक्ष्ण और स्
से नम्र था। नव यौवन, शारीरिक सम्पत्ति और अखूट
होने पर भी उसे किसी पर आसक्ति नहीं थी। एक बार वह
पिता के साथ मुनि दर्शन के लिये गया। वहाँ मुनि श्री के
चर्य के उपदेश की उस पर गहरी छाप पड़ी। व्याख्यान
वह मुनिश्री के पास गया और बोला – महाराजश्री मैं
ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ परन्तु धीरे २ ही इस महा
महाशिखर पर पहुँचा जा सकता है अत मैं आज से ही कृ
में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा लेना चाहता हूँ।
आप मुझे यह प्रतिज्ञा करादें। मुनिश्री ने विजयकुमार
प्रतिज्ञा करा दी।

उसी नगर में लीलाधर सेठ की कन्या विजयाकुमारी भी बड़ी रूपवती और गुणवती थी। उसने भी ब्रह्मचर्य की महिमा सुनकर साध्वीजी से आजीवन शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा धारण कर ली।

प्रकृति की लीला देखिये विनयकुमार और विजयाकुमारी का परस्पर विवाह हो गया। विजयाकुमारी को जब विजय कुमार की प्रतिज्ञा का पता चला तब उसने नम्रतापूर्वक उनसे कहा—पतिदेव! जैसे आपको कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा है वैसे मुझे भी शुक्लपक्ष की प्रतिज्ञा है। यह हमारा सद्भाग्य है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये यह अमूल्य अवसर सहज ही मिल गया है अतः इसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। विजयकुमार का भी ध्येय पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने का ही था अतः उसने भी इस सहज मिलन को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उन्होंने आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था। इस आदर्श उदाहरण का जितने अंश में अनुकरण किया जा सके करना चाहिये।

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे विश्ववंद्य बनते हैं। शास्त्रकार भी कहते हैं कि—

> देवदाणवगन्धव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा ।
> बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं ॥

देव दानव, यक्ष राक्षस, किन्नर और गन्धर्व आदि सब ब्रह्मचारी के सामने नतमस्तक हो जाते हैं। हाथों के बल से जैसे समुद्र को तिरना अशक्य होता है वैसे ही एक जीभ से शील का गुणगान करना अशक्य है।

श्री सूयगडांग सूत्र के छट्ठे अध्ययन में कहा है
तवेसु वा उत्तमं बम्भचेरं। ब्रह्मचर्य सब तपों में सर्व श्रेष्ठ
अत उसकी आराधना हर एक मानव को अपने जीव
अवश्य करनी चाहिये।

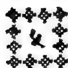


श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(५)

अपरिग्रह-व्रत



अपरिग्रह-व्रत



मदारी के बन्दर के गले में रस्सी बंधी हुई होती है जिस
दूसरा छोड़ मदारी के हाथ में होता है। इससे यह अप
इच्छानुसार चल-फिर नहीं सकता है। बाजार में यह कई
के फलफूल और मिठाइयाँ देखता है जिन्हें देख कर उस के
में पानी आ जाता है, पर वह परवश होता है अत उन्हें खा
सकता है। तनिक भी वह इधर उधर होता है कि मदारी
खींच लेता है जिससे वह कुछ भी अपनी इच्छानुसार नहीं
सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य तृष्णा की डोरी से बंधा हुआ

उसे चाहे जितनी प्रबल इच्छा क्यों न हो, फिर भी वह धर्म की प्राप्ति नहीं कर सकता है। तृष्णा की रस्सी काटने के लिये ही यह 'अपरिग्रह-व्रत' बताया गया है। बारह व्रतों में इस का स्थान पाँचवाँ आता है।

इस व्रत के पालन करने के मुख्य दो उद्देश्य हैं एक व्यक्तिगत आत्मविकास का और दूसरा सामाजिक व्यवस्था का।

जड़ वस्तुओं के अधिक संग्रह से मनुष्य की आत्मा दब जाती है और उसका विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है अतः आत्मविकास के लिये अपरिग्रह की विशेष आवश्यकता होती है।

जब एक मनुष्य किसी वस्तु का अधिक संग्रह करता है तब दूसरे मनुष्यों को उस वस्तु की कमी भोगनी पड़ती है। संग्रह की वजह से समाज में विषमता और अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इसको दूर करने के लिये भी अपरिग्रह की आवश्यकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र (के चौथे अध्ययन) में भगवान् महावीर ने कहा है कि—

> *वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,*
> *इमम्मि लोए अदुवा परत्था।*
> *दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे,*
> *नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।*

हे प्रमादी जीव! इस लोक या परलोक में धन शरण देने वाला नहीं है। अंधकार में जैसे दीपक बुझ जाय तो दिखा हुआ मार्ग भी बिन देखे जैसा हो जाता है, वैसे ही पौद्गलिक वस्तुओं के मोहांधकार में न्याय-मार्ग का देखना और न देखना दोनों हा

समान हो जाता है। ममत्ववृत्ति के त्याग से ही धर्म-मार्ग का आचरण किया जा सकता है।

परिग्रह सब पापों की जड़ है। जहाँ तक परिग्रह पर नियन्त्रण नहीं रखा जायगा वहाँ तक दूसरे पाप कम नहीं हो सकेंगे। संग्रहखोरी, सचयवृत्ति या पूंजीवाद आज के सभी पापों के जनक हैं। कीड़ी से लेकर राजा तक सभी आज संग्रह करने में ही मग्न हैं। मनुष्य चाहे जितने छोटे बड़े व्रत नियम करें पर संग्रहवृत्ति पर नियन्त्रण न रखें तो वे सच्चे अर्थों में अपना विकास नहीं कर सकेंगे। परिग्रह अन्य ग्यारह व्रतों को भी हानि पहुँचाता है। अन्य व्रतों के लिये यह कुल्हाड़े की तरह है।

अठारह पापों में परिग्रह बड़ा पाप है। अन्य सतरह पापों को करने वाला तो उनका फल स्वयं ही भोगता है और अपने साथ ही उन पापों का बोझा ले जाता है परन्तु परिग्रह के पाप का सेवन करने वाला अपने सिर पर तो इसका बोझा ले जाता ही है, पर मरने के बाद अपनी सन्तानों के लिये भी उसका पाप छोड़ जाता है।

शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि *'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्'*। अर्थ सचमुच अनर्थ ही है। शास्त्रकारों ने 'अर्थ' के इतने अधिक अनर्थ बताये हैं, फिर भी इस अर्थप्रधान युग में पैसों को ही प्राण समझा जा रहा है। अपना कोई प्रियजन मर जाय तो उसका दुःख छह महीने बाद भुला दिया जाता है, परन्तु पैसों का नुकसान होता है तो उसका दुःख सारी जिन्दगी तक मनुष्य भूलता नहीं है। मनुष्य की आज धन के लिये जितनी प्रबल आकांक्षा है उतनी अन्य किसी के लिये प्रतीत नहीं होती

है। धनप्राप्ति के लिये कई बार मनुष्य आँसू भी बहाता है, पर क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी है जिसने कि सत्य की प्राप्ति के लिये कभी एक बूंद आंसू भी टपकाया हो? धन के लिये कई रात्रियों का उजागरा करने वाले क्या कभी सत्य के लिये एक घन्टे का भी उजागरा कर सकेंगे?

महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम ने अपरिग्रह के सम्बन्ध में बोलते हुए क्या ही सुन्दर कहा है—

'तुका म्हणे धन आम्हा गोमासा समान।'

अर्थात्—धन का आवश्यकता से अधिक स्नेह करना गोमास की तरह त्याज्य होना चाहिये।

एक बार सर्वोदय के दिन विनोबा भावे ने कहा था कि 'जिस पैसे की तुम परमेश्वर की तरह पूजा करते हो वह पैसा परमेश्वर नहीं, पिशाच है जिसका भूत तुम पर सवार हो गया है, जो रात-दिन तुमको सताता रहता है और तनिक भी आराम नहीं लेने देता है। इस पैसा रूपी पिशाच को तुम देवतुल्य समझ कर कब तक पूजते रहोगे और नमस्कार कर उसके आगे कब तक अपनी नाक रगड़ते रहोगे।'

विष कम हो या ज्यादा, आखिर तो विष ही है अतः यह त्याज्य होता है। इसी तरह कम या ज्यादा परिग्रह भी पाप रूप ही होता है अतः यह भी त्याज्य है। ऐसा भगवान् महावीर ने फरमाया है। हल्का या भारी सचित्त या अचित्त अल्प मूल्य-वाला या बहुमूल्यवाला अनावश्यक संग्रह महा दुःखकारी महा अनर्थकारी पाप का मूल और दुर्गति बढ़ाने वाला है। यह परिग्रह

काम क्रोध, मान, माया और लोभ का जनक है। धर्म रूपी कल्पवृक्ष को जला देने वाला है। न्याय, क्षमा, सन्तोष नम्रता आदि सद्‌गुणों को खा जाने वाला कीड़ा है। परिग्रह बोधबीज का यानी समकित का विनाशक है। और संयम, संवर तथा ब्रह्मचर्य का घातक है। यह जन्म, जरा और मरण के भय को पैदा करने वाला है। मोक्षमार्ग में विघ्न खड़ा करने वाला और कड़ुवे किंपाक फलों को देने वाला है। चिन्ता और शोक रूप सागर का बढ़ाने वाला, तृष्णा रूपी विषवल्लरी को सींचने वाला, कूड-कपट का भण्डार और क्लेश का घर है। परिग्रह को ऐसे अनेक अनर्थों का कारण समझ कर तृष्णा मात्र का त्याग कर देना चाहिये।

मांस के टुकड़े के लिये जैसे चील और कौए दौड़ादौड़ करके खींचतान करते हैं, वैसे ही पैसों के लिये भी मनुष्य दौड़ा-दौड़ और खींचतान करते हैं। इस खींचतान से ही तो युद्धों और संघर्षणों का जन्म होता है। 'आरुणीकोपनिषद्' में आता है कि एक बार आरुणी ऋषि ने एक कुत्ते को दौड़ते हुए आते देखा। उसके मुंह में मांस वाली एक हड्डी थी। जिसे छीनने के लिये दूसरे कुत्तों ने उसे घेर लिया और दाँत तथा पंजों से उसे मारने लगे। कुत्ते ने घबरा कर वह हड्डी नीचे गिरादी। जैसे ही उसने हड्डी नीचे गिराई, कुत्तों ने उसका पीछा छोड़ दिया। इतने में तो दूसरे कुत्ते ने वह हड्डी अपने मुंह में ले ली। शेष कुत्ता ने अब उसका पीछा पकड़ा, परन्तु वह भी अपनी जान बचाने के लिये हड्डी छोड़ कर भाग निकला। पीछे रहे हुए कुत्ता में भी हड्डी के के लिये बड़ी, देर तक लड़ाई होती रही और वह कुत्ते घायल भी हो गये। यह देख कर ऋषि ने विचार किया कि 'अहो, जो दुःख—

है यह ग्रहण करने में ही है, त्याग में नहीं है। जहाँ तक कुत्ते के पास हड्डी रही वहाँ तक सब उसे मारते रहे, परन्तु हड्डी छोड़ते ही वह सुखी हो गया। दैनिक जीवन में दिखाई देने वाला यह दृष्टान्त हम से कहता है कि ममत्व में दुःख है, सुख त्याग में ही है।'

आज एक तरफ तो मनुष्य धन के ढेर खड़े कर देता है और दूसरी तरफ सैकड़ों मनुष्य निर्धन बन जाते हैं, जो कि अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी इधर-उधर मारे २ फिरते हैं। धनवान् धन की अधिकता से विलासी जीवन व्यतीत करते हुए स्वेच्छया पतन का मार्ग ग्रहण करते हैं जब कि गरीब भी अत्यन्त गरीबी से खाने पीने के फाँके पड़ने से पतन की ओर अग्रसर होते हैं। संस्कृत में कहा है कि *'बुभुक्षित किं न करोति पापं'* भूखा मनुष्य अनिच्छापूर्वक भी पाप के मार्ग में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार परिग्रह वृत्ति में दोनों का पतन है। एक अनुभवी ने ठीक ही कहा है कि—Our incomes are like shoes If too small they gall and pitch us if too large, they make us to stumble and to trip मनुष्य के आय को उसने जूतों के साथ समानता की है। जूते अगर छोटे होते हैं तो उस से पैरों में छाले पड़ जाते हैं और बड़े होते हैं तो वे मनुष्य को गिरा देते हैं। आयका भी ऐसा ही हाल होता है। कम आय में मनुष्य प्रतिदिन कठिनाई अनुभव करता है और ज्यादा आय हो तो वह विलासी बन कर पतन के मार्ग में चला जाता है।

उपनिषद में आता है कि—*'हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्य-पिहितं मुखम्। तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।'* यह एक प्रार्थना पद है, जिसमें कहा गया है कि सोने के ढक्कन से सत्य

का मुह ढक गया है। मुझे उस सत्य के दर्शन करने हैं अतः हे देव ! तू इस सोने के ढक्कन को दूर कर दे।' एक धर्मगुरु के पास एक श्रीमन्त ने जाकर पूछा– महाराज ईश्वर के दर्शन कैसे किये जा सकते हैं ? मनुष्यों को ईश्वर के दर्शन क्यों नहीं होते हैं ?

धर्मगुरु ने एक कागज पर 'ईश्वर' शब्द लिखा और श्रीमन्त से पूछा– यह क्या है ? श्रीमन्त ने जवाब दिया—'ईश्वर।'

धर्मगुरु ने 'ईश्वर' शब्द पर सोने की मुहर रख कर कहा– क्या अब ईश्वर दिखता है ? श्रीमन्त ने कहा—नहीं, अब नहीं दिखता है।

धर्मगुरु ने श्रीमन्त को समझाते हुए कहा—भाई, ईश्वर पर यह सोने का आवरण आ गया है, इससे मनुष्यों को ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते हैं।

कहने का आशय यह है कि सत्य-प्राप्ति या ईश्वर प्राप्ति न होने का मूल कारण परिग्रह की ममता ही है। जैसे व्यसनी पुरुष व्यसन में मस्त रहता है वैसे ही धन का व्यसनी भी हर समय धन के नशे में चूर रहता है। ऐसी स्थिति में सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

परिग्रह, गरीबों के लिये द्वेष का कारण भी बनता है। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मेहनत तो हम पूरी करते हैं फिर भी भरपेट खाने को मिलता नहीं है, न शरीर ढकने को वस्त्र मिलते हैं और न रहने को मकान ही, जब कि श्रीमन्त बिना मेहनत के ही केवल पैसों के बल से सात खंडी हवेली में अमन चैन करते हैं, मोटर में फिरते हैं, बाग-बगीचों में क्रीड़ा करते हैं, मेवा-मिष्टान्न उड़ाते हैं और रेशमी वस्त्र पहिनते हैं। इस प्रकार

गरीबों के मन में द्वेष पैदा होता है, जिसका मूल कारण अमर्यादित परिग्रह ही है। यन्त्रवाद से पैदा की गई असमानता ही है। यही असमानता साम्यवाद को निमन्त्रित कर रही है। यदि सभी परिग्रह की मर्यादा बाँध लें तो यह असमानता दूर हो जाय और द्वेष का कोई कारण भी न रहे। तब फिर साम्यवाद की तो आवश्यकता ही क्यों रहेगी?

भोग का सुख बिजली की तरह चंचल है, जब कि त्याग का सुख, सूर्य के प्रकाश की तरह स्थिर होता है। फिर भी मनुष्य कैसा है जो भोग की तृष्णा को छोड़ नहीं सकता है। मनुष्य चाहे जितनी साधन-सामग्री एकत्रित क्यों न करे पर वह उन सभी का एक साथ उपयोग तो नहीं कर सकता है। मनुष्य के पास एक के बजाय दस मोटरें भी क्यों न हों पर बैठने के समय तो वह किसी एक में ही बैठ सकेगा। एक साथ सभी मोटरों में तो बैठने से रहा? आलमारी भरे कपड़े भी उस के पास क्यों न हों पर पहिनेगा तो गिनती के ही न, दो-चार-पाँच? रहने के लिये चार बगले हों, पर रहेगा तो किसी एक में ही। कोई सम्राट् सारी पृथ्वी पर विजय क्यों न प्राप्त कर ले, पर वह सारी पृथ्वी पर थोड़े ही सो सकेगा? वह तो एक शहर में ही रह सकेगा। सारे शहर को भोगने की भी उसमें ताकत कहाँ है? वह तो एक महल में भी साढ़े तीन हाथ की जगह ही भोग सकेगा। यही वस्तु स्थिति यह होने पर भी मनुष्य को संग्रह करने की ऐसी बुरी आदत पड़ गई है कि वह संतोष हा धारण नहीं कर सकता। संतोष का सुखोपभोग करना तो मानो उसके भाग्य में ही लिखा हुआ नहीं है।

जो लोग यह समझते हों कि सुख पैसों से मिलता है, तो उनकी निरी भ्रान्ति ही है। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है'

कि—The greatest humbug in the world is the idea that money can make a man happy यह विश्वास कि पैसा मनुष्य को सुखी कर सकता है, बड़ी से बड़ी भ्रान्ति ही है। शेक्सपीयर ने भी कहा है कि—Gold is worse poison to men's souls, doing more murders in this loathsome world, than any mortal drug अर्थात् मनुष्य की आत्मा के लिये सोना (स्वर्ण) निकृष्टतम विष है—जहर है। इस दुःखपूर्ण दुनिया में अन्य विषों में धन का विष अधिक रक्त बहाने वाला है। इस प्रकार पैसा सुख के बदले दुःख ही बढ़ाता है।

सन्तोष की प्राप्ति होना सरल बात नहीं है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है कि—Contentment is a pearl of great price and whoever procures it at the expense of ten thousand desires, makes a wise and happy purchase अर्थात् सन्तोष उस मूल्यवान मोती की तरह है जो कोई दस हजार कामनाओं का बलिदान कर सन्तोष का मोती खरीदता है वह बुद्धिमानीपूर्ण और सुखप्रद खरीद करता है। यश कीर्ति, धन वैभव स्थान, अधिकार पदमत्ता अच्छा खानापीना, पहिनना आदि ऐसी सैंकड़ों वासनाओं का त्याग किये बिना सन्तोष का मोती खरीदा नहीं जा सकता। कहने का आशय यह है कि सभी वासनाओं से दूर होने पर ही सन्तोष की प्राप्ति हो सकती है। वासनाओं के त्याग में और सन्तोष की प्राप्ति में ही सच्चा सुख है।

अधिक पैसों की प्राप्ति होने से ही कोई मनुष्य श्रीमन्त नहीं बन सकता है। जिसके पास जितना हो उसी में जो सन्तोष

मानें वही सचमुच श्रीमन्त है। हमारे यहाँ षट् दर्शन कहे जाते हैं जो कि न्याय दर्शन वैशेषिक दर्शन योग दर्शन सांख्य दर्शन पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा के नाम से प्रसिद्ध हैं। योग दर्शन के रचयिता पतञ्जली हैं। न्याय दर्शन के रचयिता गौतम मुनि हैं। वैशेषिक दर्शन के कर्ता कणाद मुनि हैं। ये बड़े विद्वान् तो थे ही, पर साथ ही बड़े अपरिग्रही भी थे। वे अपने पास कुछ भी नहीं रखते थे। किसान द्वारा अपने खेत का नाज लेने पर और पक्षियों द्वारा नीचे पड़ा हुआ अनाज चुग लेने पर जो कुछ दाने बचे रह जाते थे उन्हें कणाद मुनि बीन लेते थे और उससे अपनी आजीविका चलाते थे। इसीसे उनका नाम कणाद पड़ा था। कणाद का अर्थ ही 'कण' को खाने वाला होता है। ऐसा सादा और सात्विक आहार खाकर ही उन्होंने वैशेषिक दर्शन की रचना की है।

जब यह बात वहाँ के राजा को मालूम हुई कि मेरे राज्य में रहने वाला एक विद्वान् मुनि नाज के दाने बीन बीन कर अपना निर्वाह चलाता है, तो उसने खूब धन देकर अपने कर्मचारियों को उनकी सेवा में भेजा। मुनि उस समय समाधिस्थ थे। कुछ देर बाद जब उन्होंने अपने नेत्र खोले तो राजा के कर्मचारियों को सामने खड़ा देखा। मुनि ने उनके आने का उद्देश्य पूछा। राज्य-कर्मचारियों ने राजा के धन को ऋषि के चरणों में रखा और उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की। ऋषि ने कहा— यह धन किसी गरीब को दे दो, मुझे इसकी जरूरत नहीं है।

यह उत्तर सुनकर राज्य-कर्मचारियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस ऋषि के पास सिवाय लंगोटी के और कुछ नहीं है यह कण बीन कर खाता है, फिर भी गरीबों की चिन्ता करता है?

इससे गरीब और कहाँ, ढूढने जावें ? राज्य-कर्मचारी इसीका विचार करते हुए लौट आये और राजा से सारी बात कह दी। राजा ने अपने सलाहकारों को बुलाया और उनकी सलाह ली। उन्होंने कहा—यहाँ से जितना धन भेजा गया था यह आपको शोभा दे उतना नहीं था। सम्भव है, इसीलिये ऋषि ने उसे स्वीकार न किया हो। राजाने दूसरी बार दुगुना धन भेजा पर ऋषि ने पहले जैसा ही जवाब उन्हें दिया। इस बार राजा स्वयं चौगुना धन लेकर ऋषि के पास पहुँचा और उनसे वह ले लेने की प्रार्थना की। ऋषि ने कहा—राजन् ! यह धन किसी गरीब को दे दो।

इस बार भी यही उत्तर सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—ऋषिजी ! अविनय हो जाय तो क्षमा कीजियेगा परन्तु मुझे आप से एक प्रश्न पूछना है। आपके पास लंगोटी के सिवाय और कुछ नहीं है, फिर भी आप यह धन दूसरे गरीबों को बाँट देने को कह रहे हैं, तो कहिये, आपसे अधिक गरीब दूसरा कौन हो सकता है।

ऋषि इस पर भी कुछ बोले नहीं और पुनः उन्होंने यही कहा कि राजन् ! यह धन किसी गरीब को दे दो।'

राजा विवश हो वापिस लौटा। रात को उन्होंने सारा हाल अपनी रानी से कहा। रानी ने कहा—महाराज ! आपने भूल की उन्हें निष्परिग्रही साधु को आपके द्रव्य की क्या आवश्यकता है ? आप इसी समय उनके पास जाकर क्षमा याचना कीजिये और उनसे कोई रसायन विद्या बताने की प्रार्थना कीजिये। जिससे की प्रजा को सुखी बनाई जा सके।

राजा उसी समय ऋषि के पास गया और उनसे क्षमा याचना करते हुए बोला—महाराज, मैं आप से रसायन विद्या सीखने आया हूँ। ऋषि ने कहा–राजन् ! मैं दिन में भी कभी तेरे घर नहीं आया हूँ पर तू आज आधी रात में भी यहाँ आकर मुझ से भीख माँग रहा है। अब कह कंगाल कौन ? तू या मैं ?

ऋषि ने आगम द्वारा उपदेश देते हुए राजा से कहा–राजन् ! आत्मिक गुणों की प्राप्ति ही सच्ची रसायन है। रसायन से लोहा सोना बनाया जा सकता है, पर आत्मगुणों की प्राप्ति से तो नर को नारायण बनाया जा सकता है। तू अपनी प्रजा में मैत्री मुदिता, करुणा और मध्यस्थता के गुणों का प्रचार कर। यही ठीक है। सोने चाँदी के यदि तू अपनी प्रजा के सामने ढेर लगा देगा तो इससे वह सुखी होने वाली नहीं है। पत्ते और घास खाकर भी पेट भरा जा सकता है, फिर इसके लिये इतनी उपाधि क्यों ? पेट भरने के खातिर अमूल्य समय का व्यय करना अज्ञानता है। समय और शक्ति का उपयोग तो इन दैवी सद्गुणों की प्राप्ति के लिये ही करना चाहिये।

इस प्रकार कणाद ऋषि ने राजा को सच्ची सम्पत्ति और सच्चा रसायन दिखा समझा दी। इससे आप समझ गये होंगे कि श्रीमन्त किसे कहा जा सकता है ? श्रीमन्ताई लक्ष्मी या वैभव में नहीं है परन्तु सन्तोष में ही है।

धन-सोना-चाँदी आदि बाह्य परिग्रह हैं और जैसे ये त्याज्य हैं, वैसे ही आभ्यन्तर परिग्रह भी त्याज्य हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

साम्प्रदायिकता भी एक परिग्रह है। धनवान का धन का परिग्रह जैसे स्व और दुनिया के है वैसे ही साधारण जनता की

साम्प्रदायिकता का परिग्रह भी हानिकारक होता है। सम्प्रदायें भले ही हों पर साम्प्रदायिकता नहीं होनी चाहिये। मनुष्य को धर्मपरायण अवश्य होना चाहिये, पर धर्माभिमानी नहीं। अभिमान धन का हो या धर्म का पतन करने वाला ही होता है। चन्दन शीतल होता है, पर उस की आग शीतल नहीं होती है। चन्दन की आग भी साधारण आग की तरह ही मनुष्य को जला देती है। इसी तरह धर्म लाभदायी है, पर धर्म का जनून-धर्म का अभिमान हानिकारक ही होता है अत साम्प्रदायिकता के परिग्रह का भी त्याग करना चाहिये।

सुधरे हुए वर्ग में साम्प्रदायिकता का परिग्रह तो कम हुआ प्रतीत होता है पर उसका स्थान राष्ट्रीयता के परिग्रह ने ले लिया है। राष्ट्रीयता भी एक तरह का परिग्रह है। राष्ट्रीयता की आज जो व्याख्या की जाती है वह बड़ी संकुचित है। 'अपने राष्ट्र की भलाई के लिये दूसरे राष्ट्रों का अहित भी करना पड़े तो उसमें हिचकिचाना नहीं' यही आज की राष्ट्रीयता कही जाती है। ऐसी संकुचित राष्ट्रीयता से आज कई अनर्थ पैदा हो गये हैं अत राष्ट्रीयता के साथ विश्व बन्धुत्व की भावना को भी नहीं भुलानी चाहिये।

महात्माजी ने 'मंगल प्रभात' में लिखा है कि वस्तुओं की तरह विचारों का भी अपरिग्रह होना चाहिये। जो विचार मनुष्य को सत्य से उन्मुख करते हों या विपरीत मार्ग पर ले जाते हों उनका भी त्याग कर देना चाहिये। काम क्रोधादि षड् रिपुओं का आभ्यंतर परिग्रह में समावेश किया जाता है।

इसके सिवाय महात्माजी ने शरीर बल को संचित कर रखना भी परिग्रह में ... है। उनका कहना था कि शरीर में

काम करने की जितनी ताकत हो उतनी ताकत शाम तक सेवा करके व्यय कर देनी चाहिये। अर्थात् जब तक मनुष्य थक न जाय तब तक उसे सेवा के काम में लगे रहना चाहिये। प्रकृति उसे रात्रि के समय में नव बल और नव शक्ति प्रदान करती ही है। तब फिर उसे दिन में अपनी शक्ति का उपयोग सेवा के क्षेत्र में क्यों नहीं कर लेना चाहिये? जितना तादाद में मनुष्य शारीरिक शक्ति का संचय कर उपयोग नहीं करता है उतनी ही तादाद में उसने शक्ति का परिग्रह सेवन किया, कहा जायगा।

इस प्रकार आत्मोन्नति के इच्छुक साधकों को परिग्रह के विविध स्वरूपों को जानकर उन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

हजारों वर्षों से अपरिग्रह का उपदेश दिया जाता रहा है, फिर भी आज तक समाज में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा क्यों नहीं हो सकी? यह एक विचारणीय प्रश्न पैदा हो जाता है।

समाज में देखें तो अहिंसा के प्रति आदर और हिंसा के प्रति घृणा दिखाई देती है। पहले व्रत का भंग करने वाला हिंसक सम्माननीय नहीं होता है। चौथे व्रत की मर्यादा का भंग करने वाला दुराचारी भी समाज में आदर नहीं पाता है। दूसरा और तीसरा व्रत भंग करने वाला अर्थात् झूठे लेख लिखने वाला या चोरी करने वाला भी दंडनीय बनता है। इस प्रकार अन्य सभी व्रतों का भंग करने वाला समाज में अपनी प्रतिष्ठा खो देता है और कानून के जरिये भी सजा का पात्र होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक ही है कि पाँचवें अपरिग्रह व्रत का भंग करने वाला या अमर्यादित परिग्रह एकत्रित करने वाला

समाज में घृणा का या दंड का पात्र क्यों नहीं माना जाता है ? उल्टा यह देखा जाता है कि जो अधिक परिग्रही है वह समाज में अधिक सम्मानित होता है। इसका क्या कारण है ?

परिग्रह के प्रति आदरभाव होना ही अनर्थ का मूल है। धन की वजह से जब तक धनवान् को सम्मान मिलता रहेगा तब तक मानव के हृदय से द्रव्य का लोभ दूर नहीं हो सकेगा। परिग्रह का एकान्त नाश संभव नहीं है फिर भी उस के प्रति जो आदरवृत्ति है वह तो दूर होनी ही चाहिये।

लोग पैसे वालों को पुण्यवान् समझते हैं। जब कि शास्त्रों में परिग्रह को पाप माना गया है और इसकी गणना अठारह पापस्थानों में की गई है। पुण्य के भी शास्त्रों में ४२ फल कहे गये हैं पर कहीं भी उनमें पैसा का नामोनिशान तक नहीं आया है। फिर कैसे धनवान् को पुण्यवान् कहा जा सकता है ? परन्तु आज तो ऐसा हो हो रहा है। अठारह पाप स्थानों के बदले सत्तरह पाप स्थान समझे जा रहे हैं और परिग्रह को पाप नहीं, पर पुण्य का फल माना जा रहा है ? इतना ही नहीं, परिग्रह का पाप अधिक करने वाला उतना ही बड़ा आदमी समझा जाता है। आज के युग में परिग्रह की वृद्धि के लिये अन्य सत्तरह पाप भी करने पड़े तो उनको करने में मनुष्य हिचकिचाता नहीं है। दुनिया परिग्रह को ही सब कुछ मान बैठी है। इसीका यह परिणाम है कि उसे सुख की छाया भी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है।

कोई यह कहे कि हम तो प्रामाणिकता से पैसा इकट्ठा करते हैं, इसमें क्या पाप है ? यह सच है कि प्रामाणिकता से पैसा पैदा करने में अनीति के पाप से बचा जा सकता है, परन्तु

परिग्रह के पाप से नहीं बचा जा सकता है। अत प्रामाणिकता और सत्य का आश्रय लेकर भी आवश्यकता से अधिक पैसा एकत्रित करने में परिग्रह का पाप तो लगता ही है।

जैन साहित्य में ममण सेठ की एक कथा आती है। ममण सेठ बड़ा ही सकुचित वृत्ति वाला था। उसके पास अखूट धन-सम्पत्ति होने पर भी वह कभी खाता-पीता या खर्च नहीं करता था। एक बार श्रावण मास का घनघोर अधियारी रात म पानी बरस रहा था, बिजली चमक रही थी। नदियों में बाढ आ रही थी। नगर-निवासी सब अपने २ घर में सुख की नींद ले रहे थे। राजा श्रेणिक और रानी चेलणा भी अपने राजमहल में सुख चैन से सो रहे थे।

इतने में रानी की नींद भग हो गई। वह उठी और महल की खिडकी के पास आकर खड़ी हो गई। नदी के उस पार बिजली चमक रही थी। रानी ने उस बिजली की रोशनी में एक आदमी को देखा, जो इस भयकर बरसात में भी नदी म बहता हुआ एक लकड़ा खींच रहा था। ठड के मारे वह कॉप रहा था। रानी को उस पर दया आ गई। उसने राजा को जगाया और कहा—महाराज! हमारे राज्य में ऐसे कंगाल मनुष्य भी बसते हैं जिन्हें अपने पेट के खातिर ऐसी घनघोर बरसात में भी मेहनत करनी पड़ता है। यह राज्य का कलक ही कहा जायगा। इन के दु खों को दूर करना ही हमारा राजधर्म है।

राजा ने उस आदमी को बुलाने के लिये अपना एक नौकर भेजा। जब वह राजा के सामने आकर खड़ा हुआ तब राजा ने उससे पूछा-क्यों भाई? तुझे ऐसा क्या दु ख है, जिससे तुझे इस

भयानक रात्रि में भी इतना कष्ट उठाना पड़ता है ? उस आदमी ने कहा-महाराज, मुझे बैल की जोड़ी चाहिये, इसके लिये मैं मेहनत कर रहा हू।

राजा श्रेणिक ने कहा-अभी तो तू आराम से सो जा। सुबह राज्य की रथशाला में जाना और वहाँ से अपने पसद की बैल जोडी ले लेना।

सुबह होने पर राजा ने उसे रथशाला में भेज दिया। परन्तु वह विना बैल लिये ही वहाँ से लौट आया और राजा से बोला—महाराज! वहाँ तो एक भी बैल ऐसा नहीं है जो कि मुझे पसन्द आ सके। यह सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा-तब तुम्हे कैसा बैल चाहिये ?

उस आदमीने कहा—महाराज, मेरे घर पधारिये और मेरे बैल देखिये। मुझे वैसे बैल चाहिये।

राजा श्रेणिक उस आदमी के साथ २ उसके घर गया। अधेरे घर में ले जाकर उस आदमीने बैलों पर डाला हुआ कपड़ा उठाया और कहा-महाराज, मुझे ऐसे बैल चाहिये ?

राजा तो बैलों को देख कर स्तब्ध हो गया। बैल सोने के बने हुए और रत्नजड़ित थे। राजाने कहा—भाई, ऐसे बैल तो मेरा सारा राज्य बेच देने पर भी नहीं मिल सकते हैं। यह कह कर राजा अपने महल में लौट आया। यह आदमी और कोई नहीं स्वय मम्मण सेठ था। इतना द्रव्य होने पर भी उस की संग्रह वृत्ति बेहद बढी हुई थी। खर्च के भय से वह उबाले हुए उर्द के दानों के सिवाय और कुछ भी नहीं खाता था। बस, इसी संग्रह

वृत्ति से वह मर कर नरक में गया और अगणित दु खों का भाजन बना। उस के जीवन मे भोगविलास का नामोनिशान भी नहीं था। बिल्कुल सादा उसका जीवन था। फिर भी उसे सचय-वृत्ति से नरक के असह्य दु ख सहने पडे थे। ससारी जीवों को ऐसे दु खो से बचाने के लिये ही भगवान् महावीर ने यह पाँचवाँ परिग्रह परिमाण व्रत बताया है।

धन पर ममता भाव रखने से कई मनुष्य मर कर भी उसी घर में सर्प बनते हैं, जिन्हें परम्परानुसार पूर्वज कहा जाता है। धन की ममता रह जाने से कई बार श्वान योनि में मधु मक्खी, भँवरा, कीड़ी आदि योनियों में भी मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है।

वासना तथा ममता का ऐसा दु खद परिणाम लक्ष्य में रख कर ही शास्त्रकारों ने परिग्रह का परिमाण रखने का और उसकी ममता छोड़ने का कहा है।

ज्ञाता सूत्र मे श्री नन्दन मणियार का वर्णन आता है नन्दन मणियार ने लाखों रुपये खर्च कर अपने नाम की ए बावड़ी बनाई थी जिसमें सब तरह की अनुकूल सुविधायें मुसा फिरों के लिये उसने रखी थी। ऐसी सुन्दर व्यवस्था होने लाखों व्यक्ति उसका लाभ लेने लगे और सभी नन्दन मणिया को धन्यवाद देने लगे।

मुसाफिरों के मु ह से धन्यवाद शब्द सुनकर नन्दन मणि यार मन ही मन फूला नहीं समाता था। वह जब मरा तो इ बावड़ी के प्रति उसकी आसक्ति रह गई, जिससे वह मर कर इसी बावड़ी में मेढक हुआ था। वहाँ उसे जातिस्मरण ज्ञान

गया, जिससे उसे अपने पूर्वभव की यश-कामना के लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने अपनी भूल सुधारी और जीवन पवित्र बना कर अन्त में सद्‌गति प्राप्त की।

यहाँ कहने का आशय इतना ही है कि लाखों का दान देना तो सरल है, पर उससे पैदा होने वाले मान का त्याग करना बड़ा कठिन है। नन्दन मणियार जैसे दानी को भी बावड़ी में ममता रह जाने से मेंढक का जन्म धारण करना पड़ा था।

कुछ लोग यह कहते हैं कि पहले धन कमा कर पीछे अच्छे काम में लगा दें तो क्या बुरा है? उनका यह ख्याल कीचड़ में पैर डालकर धोने जैसा है। अनीति से पैसा कमा कर फिर उसका दान देना बुद्धिमानी नहीं है। और न यह खरा दान ही है। बुद्धिमानी तो इसी में है कि कीचड़ में पैर ही क्यों रखा जाय? अनीति से पैसा मिलता भी हो तो उसका त्याग कर देना ही श्रेष्ठ दान है। क्योंकि दान से भी त्याग श्रेष्ठ कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के नवमें अध्ययन में इन्द्र नमिराय ऋषि से कहते हैं कि 'पहले तुम श्रमण ब्राह्मणों को दान दो और फिर दीक्षा अंगीकार करो।'

इसके उत्तर में नमिराज ऋषि कहते हैं कि—

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेओ अदीन्तस्स वि किंचण॥

अर्थात्—जो प्रति मास दस लाख गायों का दान करता है उससे भी एक त्यागी और संयमी श्रेष्ठ होता है। इसमें दान से भी त्याग को श्रेष्ठ बताया गया है।

इस दुनिया में अच्छी और बुरी दोनों प्रकृतियों के मनुष्य हैं। ममत्ववृत्ति के लिये मम्मण जैसे उदाहरण मिलते हैं, तो दूसरी तरफ अपरिग्रह के भी उदाहरण दिखाई देते हैं। जैन साधु साध्वी तो सर्वथा अपरिग्रही होते हैं, जैसा कि सर्वविदित है ही। परन्तु यहाँ हम एक दूसरा उदाहरण पेश करते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह का नाम आपने सुना होगा। सिक्खों के बड़े आदरणीय महापुरुष हो गये हैं। एक बार वे जमुना नदी के किनारे बैठे हुए धर्मग्रन्थ पढ़ रहे थे। इस बीच उनका एक श्रीमन्त भक्त रघुनाथदास जमींदार उनका दर्शन करने आ पहुँचा। दर्शन करके उसने दो रत्नजटित स्वर्ण कंगन गुरु गोविन्दसिंह को भेंट किये। गुरु गोविन्दसिंह के लिये तो सोना और मिट्टी दोनों में अन्तर नहीं था। उन्होंने एक कंगन उठाया और अपनी अंगुली में फिराते हुए यमुना में फेंक दिया। यह देखते ही रघुनाथदास यमुना में कूद पड़ा। दो घंटे तक खूब प्रयत्न किया, पर कंगन नहीं मिला। आखिरकार थक कर वह गुरु गोविन्दसिंह के पास आया और बोला—'गुरुदेव, कंगन का पता नहीं लग सका, न जाने वह कहाँ चला गया है?' गुरुगोविन्दसिंह ने दूसरा कंगन फेंकते हुए कहा—'देख, पहला कंगन यहाँ गिरा है।'

यह देख रघुनाथदास तो ठंडा ही पड़ गया।

ऐसे ही एक संत पश्चिम में भी हो गये हैं। उनका नाम था संत फ्रांसिस। उनके साधुत्व का ऐसा कठोर नियम था कि कोई पैसे का स्पर्श भी नहीं कर सकता था। एक बार उनके आश्रम में एक पैसा पड़ा हुआ मिला। जिसे उनके एक शिष्य ने

उठा कर ऊपर रख लिया। संत मॉसिस को जब यह पता चला तो उसने उस शिष्य को प्रायश्चित्त देते हुए कहा—'इस पैसे को हाथ से नहीं, पर दाँतों से पकड़ कर बाहिर फैंक आओ।' ऐसा उनका अपरिग्रह का आदर्श था।

पूणिया श्रावक बारह आने की ही पूजी अपने पास रखता था और उसी से अपना निर्वाह करता था। उस पर एक महात्मा को दया आ गई और उसने उस के लोहे के तवे को पारस मणि के स्पर्श से सोने का बना दिया। पूणिया श्रावक को जब इस बात का पता चला तो उसने अपनी धर्मपत्नी से कहा-इस तवे का हम स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं यह पराया धन है, इसे अपने घर में कैसे रखा जा सकता है? यह कह कर पूणिया श्रावक ने उस तवे को मिट्टी में डाल दिया। नया लोहे का तवा कैसे खरीदा जाय? उस के पास इतने पैसे तो थे नहीं अतः दोनों को तीन दिन तक उपवास करते रहना पड़ा। इस प्रकार भोजन के पैसे बचा कर उसने चौथे दिन लोहे का नया तवा खरीदा और पारणा किया। उस महात्मा को जब यह पता चला तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने इस के लिये पूणिया से क्षमा याचना की।

ऊपर के इन दृष्टान्तों से पता चलता है कि गुरु गोविन्द सिंह, संत मॉसिस और पूणिया श्रावक आदि को परिग्रह के प्रति कितनी घृणा थी? परन्तु आज तो साधारण मनुष्य भी परिग्रह का गुलाम बन कर असत्य अनीति, अप्रामाणिकता, अन्याय आदि पापों से लेकर विश्वयुद्ध, अणुबम, हाईड्रोजन बम आदि महान् पापों का सेवन कर रहा है। परन्तु यह याद रखिये कि

जो परिग्रह की गुलामी से मुक्त हो जाता है वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं।

दान देने से त्याग करना श्रेष्ठ होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि दान नहीं देना चाहिये। जो लोग त्याग न कर सकते हों उन्हें दान तो अवश्य करना ही चाहिये। धन का सद्व्यय किया जाय तो वह मित्र की तरह काम करता है और दुर्व्यय दुश्मन की तरह। लोहे की तिजोरी से दान की तिजोरी ज्यादा सलामत होती है। शक्ति से अधिक दान करने वाला यदि हंसी का पात्र बन जाय तो शक्ति होने पर भी जो दान नहीं करता है उसे क्या समझा जाय? विशेष हंसी का पात्र तो इसे माना जाना चाहिये। यहाँ यह बात भी कह देना आवश्यक है कि शुभ खाते में निकाली गई रकम शीघ्र ही खर्च कर देनी चाहिये। उसका उपयोग करने में विलंब करना योग्य नहीं है।

एक बार एक मुसलमान भाई धर्म स्थानक में आया और हमारे गुरुदेव को वन्दना कर प्रश्न पूछने की आज्ञा चाही। गुरुदेव ने जब उसे आज्ञा दी तो उसने कहा—आप जैसे त्यागी पुरुष ऐसे मकान में बिना डेरे कैसे उतरते होंगे?

गुरुदेव को आश्चर्य हुआ कि मुसलमान ऐसा प्रश्न क्यों पूछ रहा है? फिर भी उन्होंने कहा—भाई, यह धर्मस्थानक है अतः हम इसमें उतर सकते हैं।' उस मुसलमान ने कहा—हाँ, यह मैं जानता हूँ कि यह धर्मस्थानक है, फिर भी इस पवित्र स्थान में शैतान का प्रवेश हो गया है अतः आप इसमें कैसे उतर सकते हैं? गुरुदेव ने कहा—जरा स्पष्ट कहो तो मैं समझ सकूं कि तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

मुसलमानने कहा-इस धर्मस्थान के द्वार पर एक दानी गृहस्थ का शिलालेख लगा हुआ है। इससे इस पवित्र मकान में भी शैतान का निवास हो गया है अत ऐसे मकान में आपको नहीं उतरना चाहिये।

कहने का आशय यह है कि दान देने वाले में मान और अहंभाव नहीं होने चाहिये। ये दोनों शैतान की तरह हैं। वर्तमान समय में पैसा देने वालों की शोहरत के लिये ऐसे शिलालेख लगाने का रिवाज सा हो गया है। परन्तु सच्चा दानी तो वही समझा जा सकता है जो अपने नाम को गुप्त रख कर ही दान देता है। इसी लिये कहा गया है कि दान देकर भी जो मौन रहता है उसका दान उत्तम दान समझा जाता है। दान देने के बाद जो उस की जाहिरात करता है वह मध्यम दान माना गया है। दान देने से पहले ही जो जाहिरात कर दी जाती है वह अधम दान है और दान की जाहिरात कर के भी जो दान नहीं दिया गया है वह अधमाधम कहा जाता है। इन चारों प्रकार के दाताओं को क्रमश देव मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति की प्राप्ति होती है।

दान या त्याग द्वारा किसी भी तरह परिग्रह कम करना ही शान्ति का राजमार्ग है। जैसे २ परिग्रह बढता जाता है वैसे वैसे आत्मभाव नष्ट होता जाता है और अनात्मभाव बढता जाता है अत आत्म-भाव की वृद्धि के लिये परिग्रह का परिमाण अवश्य बाँध लेना चाहिये।

कोई यह न समझ बैठें कि यह सब उपदेश तो धनवानों को दिया जा रहा है। हमारे पास तो धन ही नहीं है, फिर परिमाण क्या बाँधें? धन न होने पर भी यदि वे धनवान बनने की

रखते हैं तो यह भी परिग्रह ही है। धन के प्रति आकर्षण ा और धनवानों की खुशामद करना भी परिग्रह ही है अतः रिग्रही बनने के लिये धनवान होने की वृत्ति का भी उच्छेद ा आवश्यक है।

इस व्रत में किन २ वस्तुओं की मर्यादा करनी चाहिये, ी सूची भी दी गई है। खेता-बाड़ी, बाग बगीचा आदि खुली ीन की, घर, दुकान, कोठार आदि बने हुए मकानों की, चाँदी, ा, नकद रुपया धान्य पशु नौकर-चाकर ताँबा, पीतल दि की मर्यादा बाँधनी चाहिये। मर्यादा से अधिक रखने का ास्त्रों ने निषेध किया है।

सोना चाँदी और धन की मर्यादा की तरह धान्य की मर्यादा भी इस व्रत में समावेश किया गया है। अनाज आदि खाद्य ायों का भी विशेष संग्रह नहीं करना चाहिये। जनहित की ट से यदि व्यापारी अनाज का संग्रह करें तो यह दूसरी बात परन्तु अधिक कमाई करने की दुर्भावना से उसे अनाज का ह नहीं करना चाहिये। संग्रह करने से एक तरफ तो कोठार में ाज सड़ता रहता है और दूसरी तरफ अत्यधिक मंहगाई की ह से गरीबों को भूखा मरना पड़ता है अतः इन सभी वस्तुओं मर्यादा स्व-पर कल्याण की दृष्टि से ही करनी चाहिये।

कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा तो ले लेते हैं पर उसमें बहुत रख लेते हैं। ऐसा करने से व्रत का आशय सिद्ध नहीं ा है। सचमुच देखा जाय तो यह व्रत परिग्रह को घटाने लिये है। हमारे पास जितना हो, उसमें से भी धीरे २ कम ते जाना चाहिये। परिग्रह कम करते जाने पर ही परिग्रह

परिमाण व्रत तेजस्वी बन सकता है। मानव समाज को सु
बनाने के लिये और विविध संघर्षों से मुक्त करने के लिये इस
व्रत की नितान्त आवश्यकता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—क्षेत्र-वस्तु-हिरण्य-सुवर्ण
धन-धान्यदासीदास, कुप्यप्रमाणातिक्रमा। खेत घर, धन धान्
दास-दासी, सोना-चाँदी आदि की बन्धी हुई मर्यादा या उल्लंघ
करना इस व्रत के अतिचार हैं। इन अतिचारों से बचते हु
क्रमश: परिग्रह को कम करते जाना ही आत्म शान्ति को पाने क
और विकास करने का राजमार्ग है।

बारह व्रतों में अहिंसा सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य औ
अपरिग्रह के पाँच व्रत मूल व्रत हैं। धर्म रूपी वृक्ष के ये मूल हैं
सामायिक, पौषध, तप, आदि नियमों को तो उत्तर व्रत के रू
में माने गये हैं। धर्म रूपी वृक्ष के ये पत्ते हैं। मूल व्रतों के सा
ही इनका पालन करना लाभदायी होता है। उनके अभाव
इनका पालन करना, मूल को छोड़कर पत्तों को पानी पिला
का प्रयत्न करना जैसा है अत मनुष्य को मूल व्रतों की तर
पहिले ध्यान देना चाहिये।

प्राणी मात्र के संरक्षक ज्ञातापुत्र (भगवान् महावीर) ने कु
वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तवि
परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति
रखना बतलाया है।

पूर्ण-संयमी को धन धान्य और नौकर चाकर आदि स
प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त प्रा



र्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

परिग्रह विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजो-हरण आदि वस्तुएँ रखते हैं वे सब एक-मात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम में लाते हैं। (इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।)

ज्ञानी पुरुष संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

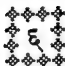


श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(६)

दिशापरिमाण-व्रत



दिशापरिमाण-व्रत



जिसके घर में दीपक जलता है, उसके घर म चोर नहीं घुस सकते हैं। इसी तरह जिसके हृदय में व्रत, नियम और सयम रूपी दीपक प्रकाशित रहता है उसके हृदय म काम, क्रोध कषाय आदि कोई भी चोर प्रवेश नहीं कर सकते हैं। ऐसे पाँच व्रतों के बारे म विचार किया जा चुका है। अब छट्ठे व्रत के बारे में यहाँ कुछ चर्चा की जा रही है।

छट्ठा व्रत 'दिशा परिमाण' का है। अपनी त्यागवृत्ति अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण ... क

उस सीमा के बाहर अधर्ममय कार्य से निवृत्ति लेना इसका उद्देश्य है। इस व्रत का आराधक दिशाओं की की हुई मर्यादा के बाहर किसी भी प्रकार का धंधा नहीं कर सकता है।

यह व्रत पाँचवाँ अपरिग्रह व्रत का पूरक व्रत है। पाँचवें व्रत में अपरिग्रह व्रत की मर्यादा की जाती है, जब कि इस व्रत में दिशाओं की मर्यादा की जाती है। तृष्णा को घटाने के लिये और अपरिग्रह की दृढ़ता के लिये इस व्रत की आवश्यकता है। तृष्णा के जाल में न फसते हुए प्राप्त साधन-सामग्री में संतोष मान कर शान्तिमय, सात्विक और सेवापरायण जीवन जाने के लिये शास्त्रकारों ने यह सरल उपाय बताया है। झूठी दौड़ धाम से बचने के लिये बारह व्रतों में इसकी खास योजना की गई है।

मनुष्य आज तृष्णा के प्रवाह में बह कर दुनिया के एक सिर से दूसरे सिरे तक दौड़ लगा रहा है। वह किसी समय वर्मा के 'माणक' लेने जाता है तो किसी समय हीरा पन्ना खरीदने। किसी समय वह एशिया का सफर करता है तो किसी समय यूरोप और अमेरिका चला जाता है। मनुष्य आज किसी समय समुद्री मुसाफिरी करता है और मत्स्य की तरह आगबोट में बैठ कर जाता है। किसी समय वह पक्षी की तरह हवाई जहाज में बैठ कर आकाश में उड़ता है। किसी समय वह जमीन का सफर करता है और आगगाड़ी में बैठ कर पशुओं की तरह दौड़ लगाता है। इस तरह वह दिन रात दौड़-धाम करता रहता है, परन्तु घड़ी भर आराम से बैठ कर इस दौड़ धाम का उद्देश्य क्या है इसका विचार करने की फुरसत उसे नहीं मिलती।

मनुष्य अपना वैभव बढ़ाने के लिये यह दौड़ धाम करता है। परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं है कि जिस पर यह वैभव का महल

बनाना चाहता है उसका शरीर रूपी स्तंभ ही भीतर से पोला है। एक कवि कहता है कि—

क्या सख्त मकां बनवाता है, खम तेरा तन का है पोला
तू ऊँचे कोट उठाता है, वां गोर गढ़े ने मुँह खोला,
गढ़, कोट रह कला तोप, किला क्या शीशा दारू और गोला,
सब ठाट पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बनजारा।

कवि कहता है कि हे मानव! तू इतनी दौड़ धाम करने से पहले जरा विचार तो कर। जिसके ऊपर तू मजबूत मकान और ऊँचा कोट किला बना रहा है, वह शरीर रूपी स्तंभ तो पोला है। तेरे लिये कब्र ने अपना मुँह खोल दिया है जो तू देखता नहीं है! जब तू यहाँ से विदा हो जायगा तब ये गढ़ कोट, तोप, दारू, गोला आदि सब जहाँ के तहाँ ही पड़े रह जायेंगे। इसलिये हे मानव! तू जरा ठहर और विचार कर।

शरीर के पोले स्तम्भ पर बनाया हुआ महल क्षणिक है, इसका विचार अगर मनुष्य शान्ति से बैठ कर करे तो दिशाओं की मर्यादा बाँधने का और शांतिमय जीवन बिताने का वह निश्चय कर सकता है।

मनुष्य सोचता है कि पहले देश विदेश में से धन कमा लाऊँ और फिर मैं आराम से रहूँगा। यह उसका भ्रम है। इस तरह आज तक क्या कोई आराम से रह सका है?

एक आदमी गंगा नदी के प्रवाह में प्रतिदिन सुबह से शाम तक हथौड़े द्वारा लकड़ी के कीले लगाने की कोशिश करता था।

जैसे ही वह हथौड़ा लगाता कीला पानी में तैर जाता था। दिन-भर वह इसी तरह करता पर एक भी कीला नहीं लगा सका।

एक दिन उसे उपाय सूझा। बायें हाथ में कीला पकड़ कर दायें हाथ से हथौड़ा मारा कीला पानी में चला गया। इससे वह बड़ा खुश हुआ। जैसे ही वह दूसरा कीला ठोकने लगा कि पहले का कीला पानी में तैरते हुए दिखाई पड़ा। उसकी इच्छा प्रवाह में कीला ठोक कर, तम्बू तानकर आराम से सो जाने की थी। इसके लिये वह प्रति दिन सुबह में कीले और हथौड़ा लेकर आता और शाम तक मेहनत करता परन्तु वह एक भी कीला नहीं लगा सका।

इस मनुष्य को आप कैसा कहेंगे? इसकी मूर्खता पर आपको हंसी आवेगी परन्तु आप स्वयं ऐसी मूर्खता कर रहे हैं इसका भी आपको ध्यान है? जिस संसार सरिता के प्रवाह में चक्रवर्ती और सम्राट् भी आराम से न सो सके, वहाँ क्या आप आराम से रहने के मनसूबे बाँध रहे हो! पानी स्थिर नहीं है, उसमें कीले भी स्थिर नहीं हैं ऐसे ही आपका धन-वैभव और जीवन भी स्थिर नहीं है अतः आप आराम से कैसे रह सकेंगे? अस्थिर वस्तुओं से आराम-प्राप्ति की इच्छा पूर्ण नहीं की जा सकती है।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। आर्य पुरुषों ने इनमें से दो को अपना जीवन ध्येय बनाया था। मोक्ष उनका साध्य था और साधन था धर्म। पाश्चात्य देशों ने काम को साध्य माना और साधन के रूप में अर्थ को अपनाया। इस कारण से उनका जीवन अर्थप्रधान बना। आज इस धर्म प्रधान

देश को भी पाश्चात्य संस्कृति की हवा लग गई है और उसका जीवन भी अर्थप्रधान बनता जा रहा है। जैसे समुद्र में सभी नदियों का विलय होता है वैसे ही 'अर्थ' के महासागर में आज सभी धार्मिक प्रवृत्तियों और सद्गुणों का विलय होते देखा जा रहा है।

मनुष्य में दो बड़ी वासनायें हैं—भोग और ऐश्वर्य। ऐश्वर्य यानी ईश्वरत्व प्रभुत्व, सत्ता। ये दो वासनाएँ ही मनुष्य से दौड़ धाम कराती हैं। आठवें सुभूम चक्रवर्ती के बारे में तो आप जानते हैं छः खण्ड से भी उसे सन्तोष नहीं हुआ अतः धातकी खण्ड के छः खण्डों को भी जीतने निकला था। उसने सोचा सभी चक्रवर्ती छः खंड तो जीतते ही हैं अगर उतने ही खंड मैं भी जीतूँ तो मेरी उनसे विशेषता क्या? अतः वह बारह खण्ड का स्वामी बनने के लिये निकल पड़ा

उसने अपना चर्मरत्न समुद्र में रखा। चर्मरत्न के एक हजार देवता सेवक कहे जाते हैं और वे इस चर्मरत्न को समुद्र में पानी के ऊपर तिराते रहते हैं। सुभूम चक्रवर्ती ने अपनी सेना को समुद्र पार करने का हुक्म दिया और इस तरह धातकी खण्ड जीतने के लिये वह चल पड़ा।

एक देवता को विचार आया, यह सेना कब समुद्र को पार करेगी और कब मेरा यहाँ से छुटकारा होगा? इसमें तो कई वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, इसलिए जरा देवांगना से मिल तो आऊँ। यह सोच कर वह चला गया। दूसरे को भी ऐसा ही विचार आया और वह भी चला गया। एक के बाद एक यों सभी देवता चले गये। देवताओं की शक्ति से जो चमरत्न तिर रहा था वह

में डूब गया। सेना सहित सुभूम चक्रवर्ती भी समुद्र में डूब गया और मरकर सातवीं नरक में गया।

ऐश्वर्य के पीछे दौड़ धाम करके मनुष्य इस तरह अपना पतन कर बैठता है।

ऐसा ही दूसरा दृष्टान्त ज्ञातासूत्र में आता है। जिनरक्ष और जिनपाल नामक दो भाइयों को विदेश में धन कमाने के लिये जाने का विचार हुआ। उन्होंने अपनी इच्छा अपने माता पिता को बताई। माता पिता ने कहा– हमारे पास सात पीढ़ी तक भी न खुटे इतना धन है, तो भी देशावर जाने की और महापरिग्रह की भावना बढ़ाने की क्या आवश्यकता है ? महापरिग्रह का भावना आत्म-कल्याण के लिये बाधक है नरकादि में ले जाने वाली है इसलिये उस भावना का त्याग करो, और सन्तोष वृत्ति धारण कर धर्माराधना करो।

माता-पिता ने जिनरक्ष और जिनपाल को इस प्रकार सलाह दी परन्तु वह उन्हें न रुचि और वे देशावर कमाने के लिये निकल पड़े। बीच समुद्र में तूफान आया और जहाज डूब गया। भाग्य से दोनों भाइयों के हाथ एक लकड़ा आ गया जिससे वे दोनों किनारे जा लगे। परन्तु जिनरक्ष वहाँ के विषयी वातावरण से बच न सका और अन्त में वहीं मृत्यु का शिकार हो गया। जिनपाल के हृदय में अकस्मात ही परिवर्तन हो गया और वह वहाँ से सीधा घर चला आया। परिग्रह की असारता जानकर अन्त में उसने दीक्षा धारण कर अपना आत्म कल्याण किया।

जो परिग्रह की ममता नहीं छोड़ते हैं उनका अन्तिम परिणाम दुःखमय होता है। जो ठोकर लगते ही सचेत हो जाते हैं

और ममता का त्याग कर देते हैं वे अपना कल्याण कर सकते हैं। निनरख और जिनपाल की कथा का यही सार है।

सिकन्दर के बारे में कहा जाता है कि उसने सारी दुनिया को फतह कर लिया था। वह हिन्दुस्तान तक आ पहुँचा था। वापिस लौटते समय वह अपने सरदारों के बीच एक छोटे से बालक की तरह रो पड़ा और बोला—अब मुझे किसी पर भी विजय पाना शेष नहीं रहा है, इससे मुझे दुःख होता है। बन्धुओं! विचार करने जैसी बात है। सारी दुनिया पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि—

'Wordly riches like nuts many clothes are torn in getting them many a teeth broke in cracking them but never a belly filled-with eating them'

धन वैभव सुपारी की तरह है, वृक्ष पर से सुपारी उतारते समय कइयों के कपड़े फटे हैं खाते समय कइयों के दाँत टूटे हैं, फिर भी सुपारी खाने से किसी का पेट तो भरा ही नहीं। यही हाल भोग और ऐश्वर्य का भी है। उसकी प्राप्ति में कई मर गये परन्तु कभी किसी ने सन्तोष अनुभव नहीं किया।

भोग और ऐश्वर्य का ममत्व सचमुच मनुष्य का पागलपन है। सिकन्दर लौटते समय बेबीलोन में ही मर गया वह अपने देश ग्रीस में भी न पहुँच सका। भोग और ऐश्वर्य का भोगने की बात तो किनारे रह गई और वह बीच में ही काल का ग्रास हो गया।

सिकन्दर की तरह मुहम्मद गजनी ने भी खूब धन इकट्ठा किया था। सतरह बार तो इसने हिन्द पर चढ़ाई की थी और जितना लूट सका उतना द्रव्य यहाँ से लूट कर ले गया। ऐसा कहा जाता है कि यह सोमनाथ के मन्दिर में से बीस मन जेवरात, दो सौ मन सोना और हजार मन चाँदी ले गया था। रोकड़ रुपयों की तो कोई गिनती ही नहीं थी। इस प्रकार उसने अखूट धन एकत्रित किया था। परन्तु मृत्यु के समय इसमें से कुछ भी साथ नहीं ले जा सकेगा यह विचार आते ही यह बालक की तरह रो पड़ा था। इतनी सम्पत्ति एकत्रित करने पर भी मृत्यु के समय अनाथ, निराधार बालक की तरह उसकी करुणाजनक स्थिति हो गई थी। यह है धन सम्पत्ति के लिए दौड़ धाम करने का अन्तिम परिणाम।

सिकन्दर ने भी मरते समय अपने प्रधानों से कहा था कि मेरे दोनों हाथ मृत्यु शय्या से बाहिर रखना और मेरी कब्र पर यह लिख देना कि सिकन्दर ने बहुत धन इकट्ठा किया और कई देश जीते थे, परन्तु यह मरते समय खाली हाथ गया था। गरीब हो या श्रीमन्त सबको एक ही तरह का धान्य खाना होता है। पानी और हवा का हरएक को समान रूप से ही उपयोग करने का मौका मिलता है। धनवान् धन खाकर जीवित नहीं रह सकते हैं। धन खाने या पहनने के काम में नहीं आता है। लक्ष्मी कोई बुढ़ापा मिटाकर जवान नहीं बना देती। इस तरह गरीब और श्रीमन्तों के खाने पीने और पहनने के साधन तो समान ही हैं, फिर भी धन-संग्रह की तृष्णा रखी जाती है, यह एक तरह की मूढ़ता ही है।

सिकन्दर के समय में ग्रीस में डायेजिनीस नामक एक तत्त्ववेत्ता हो गया है। उन दोनों की तुलना करते हुए एक विद्वान् ने कहा है कि—

Contentment depends not upon what we have A Tub was large enough for Diaginous, but the world was too little for Alexander

अर्थात् डायेजिनीस को एक टब ही पर्याप्त था परन्तु सिकन्दर को सारी दुनिया भी छोटी मालूम देती थी। सुख सतोष में रहा हुआ है, महलों में लक्ष्मी या सत्ता में नहीं। इसी परिस्थिति को ध्यान में लेकर शास्त्रकारों ने दिशाओं की मर्यादा बाँधने का उपदेश दिया है। शान्तिमय जीवन बिताने का यही एकमात्र उपाय है।

आज मनुष्य दूसरे प्रांत में या दूसरे देशों में जाकर धन्धा करते हैं और वहाँ के व्यापार को अपने अधिकार में कर लेते हैं इससे उन लोगों का धन्धा छिन जाता है। यह वृत्ति परदेशी व्यापारियों और वहाँ के निवासियों के बीच में घर्षण पैदा कर देती है। इसमें पूर्व यदि मनुष्य सभी दिशाओं की मर्यादा बाँध लेता है तो इस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न ही न हों।

दिशा की मर्यादा बाँध लेने से अन्य देशों से जैसे माल नहीं मगाया जा सकता है वैसे ही उन्हें भेजा भी नहीं जा सकता। इस तरह की दिशा-मर्यादा कर ली जाय तो दूसरे देशों पर आधार रखने की मनोवृत्ति मिट कर अपने [illegible] ष्टि म
स्वतन्त्र करने की वृत्ति जागृत हो सकती [illegible] आना
[illegible] जाय तो विदेशी व्यापार [illegible]

होने वाले विश्व युद्ध ही बन्द हो जाय। विश्व युद्ध न हो तो अणु बम और हाईड्रोजन बम के बदले मानव हित की शांतिवर्द्धक शोध होना प्रारम्भ हो जाय। इस तरह अरबों रुपयों का विनाश रुक जाय और उसका उपयोग आम जनता की भलाई के लिये होने लगे।

पश्चिम के एक देश का बादशाह पायरस जब युद्ध करने निकला तो एक तत्त्वेत्ता ने पूछा—महाराज! आप कहाँ जा रहे हैं।

बादशाह ने उत्तर दिया—इटली को जीतने जा रहा हूँ।

तत्त्ववेत्ता ने पूछा—इटली जीत कर क्या करोगे?

बादशाह ने कहा—फिर अफ्रीका जीतूँगा।

तत्त्ववेत्ता ने पुनः पूछा—फिर क्या करोगे?

बादशाह ने कहा—फिर आराम करूँगा।

तत्त्ववेत्ता ने कहा—तो, फिर अभी से आराम में क्यों नहीं रहते हो? क्या युद्धों के बाद ही आपको आराम मिल सकेगा? क्या अभी आपको खाने पीने, रहने और पहनने का कुछ कमी है?

ये ही प्रश्न आज मुझे आपसे पूछने हैं। जो आप अमेरिका और युरोप की मुसाफिरी कर रहे हैं उनसे मुझे एक ही प्रश्न पूछना है कि क्या आपको अभी खाने पीने, रहने या पहिनने की कुछ कमी है? सच बात तो यह है कि आज मनुष्य को किसी तरह की मर्यादा नहीं है। मर्यादा न होने के कारण ही यह सारी दौड़ धाम हो रही है। जिसमें न आराम है और न संतोष ही।

मनुष्य के स्वभाव को ध्यान में रख कर ही शास्त्रकारों ने छठे व्रत की रचना की है। जिससे मनुष्य मिथ्या दौड़-धाम से बचे और शान्ति की साँस ले।

इस व्रत के अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं–ऊर्ध्वाद्यस्तिर्यग व्यतिक्रम क्षेत्र वृद्धि-स्मृत्यतर्धानानि। ऊँची नीची और तिर्यग् दिशाओं का उल्लंघन करना, एक दिशा की मर्यादा कम करके दूसरी दिशा में वृद्धि करना मर्यादा भूल जाना अथवा सन्देह होने पर भी मर्यादा से आगे जाना ये इस व्रत के पाँच अतिचार हैं।

इस व्रत के आराधक को इन अतिचारों से दूर रहना चाहिये। यह व्रत मनुष्य का जीवन संतोषमय और शान्तिमय बनाता है। अगर आप इसरी विशेषता पर विचार करेंगे और अपने जीवन में उतारेंगे तो व्यर्थ की दौड़ धाम से रुक कर आप अपना जीवन शान्तिमय बना सकेंगे।

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि—'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण नहीं दे सकता।

जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापा) का दुःख है रोग और मरण का दुःख है। अहो! संसार दुःखरूप ही है! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई साथ नहीं आता।

जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते-परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुःखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।

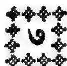


श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(७)

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत



उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत



जैसे दियासलाई घिसने से तेज प्रकट होता है, वैसे ही भोगोपभोग की इच्छाओं का निरोध करने से जीवन में तेज प्रकट होता है। सातवें व्रत की योजना इसीलिये की गई है।

उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्ययन में भगवान् महावीर फरमाते हैं कि —

बालाभिरामेसु, दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु राय!
विरत्तकामाण तवोधणाणं जं भिक्खुणं सीलगुणे

काम भोग से जो निवृत्त हो चुके हैं, तप ही जिनका धन है शील गुण म हो जो रात दिन मग्न रहते हैं, ऐसे साधु पुरुषों को जो सुख है, वह सुख अज्ञानी जिसमें रत रहते हैं, दुःख जिसका परिणाम है ऐसे कामभोगों में नहीं है। अतः सच्चा सुख प्राप्त करने के लिये भोगोपभोग की इच्छाओं पर नियन्त्रण करना चाहिये।

थियोडोर पारकर नामक एक अंग्रेज विद्वान् कहता है कि—A life merely of pleasure or chiefly of pleasure is always a poor and worthless life, not worthy the living always unsatisfactory in its course, always miserable in its end भोगी या विलासी जीवन पामर जीवन है जिसका कोई मूल्य नहीं। ऐसा जीवन जीने योग्य नहीं है। विलासी मनुष्य को हमेशा असन्तोष रहा करता है, जो अन्त में दुःख में परिणत होता है।

दूसरा एक लेखक लिखता है कि—A man of pleasure is a man of pain विलासी मनुष्य दुःख का शिकार बनता है। भोगवृत्ति जब प्रबल बनती है, तब सभी सद्गुणों का नाश हो जाता है। इसी बात को अंग्रेजी में इस तरह कहा गया है—pleasure's coach is a virtue's grave भोग का आसन सद्गुणों का कब्र बन जाता है।

कई भोग तो मनुष्य को न मिले तब तक ही आकर्षक लगते हैं। कहा है कि—Most pleasures like flowers, when gathered die फूल को तोड़ लेने पर उसकी पखड़ियाँ बिखेर देने पर उसका सौंदर्य मर जाता है। वैसे ही भोग भी अप्राप्त

दशा में सुन्दर लगते हैं, प्राप्त होने के बाद उनमें रस नहीं रहता है।

उत्तराध्ययन के १४ वें अध्ययन में कहा है कि—*खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा* अर्थात् भोगों से क्षणमात्र का ही सुख प्राप्त होता है जब कि उसके प्रायश्चित्त रूप में लम्बे समय तक दुःख भोगना पड़ता है अतः ऐसे क्षणिक सुख देने वाले भोगों को त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

हरबर्ट के शब्दों में कहें तो—Fly the pleasure that bites to morrow भवरा काटता है, यह हम जानते हैं अतः उसके पास आते ही हम उसे उड़ा देते हैं। इसी तरह जो भोग फल हमें काटने वाले हैं, उन्हें पास आने से पहले ही भगा देने में बुद्धिमत्ता रही हुई है।

भोगों के सुखों की क्षणिकता और परिणाम में आने वाले दीर्घकालीन दुःखों को देख कर ही शास्त्रकारों ने सातवें व्रत में उपभोग-परिभोग का परिमाण कर लेने का फरमाया है।

इस व्रत में उपभोग परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करनी पड़ती है। उपभोग यानी एक बार भोगी जाय ऐसी वस्तु—भोजन, पेय आदि पदार्थ। परिभोग यानी बार-बार भोगी जा सके ऐसी वस्तु—वस्त्र जेवर आदि पदार्थ। इन दोनों तरह के पदार्थों का परिमाण करना उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।

इस व्रत के दो प्रकार हैं—एक भोजन सम्बन्धी और दूसरा कर्म सम्बन्धी। उपभोग परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा [illegible] भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत [illegible]।

[illegible] की वस्तुओं की प्राप्ति के लिये [illegible]

करने पड़ें उनका प्रमाण और प्रकार निश्चित करना धर्म सम्बन्धी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।

इस व्रत में उपभोग परिभोग की २६ वस्तुओं की मर्यादा करने का बताया गया है। जो कि इस प्रकार है—

(१) शरीर और हाथ पोंछने के टुवाल आदि की मर्यादा, (२) दातुन की, (३) खाने और उपयोग में लेने वाले फलों की (४) शरीर पर मर्दन करने वाला तेलादि वस्तुओं की, (५) पीठी आदि शरीर पर चुपड़ने वाली वस्तुओं की (६) नहाने के पानी का (७) वस्त्र की, (८) चन्दन आदि विलेपन को (९) फूल की (१०) गहनों की, (११) धूप की (१२) पेयों की (१३) पकवानों की, (१४) चावल आदि धान्य की, (१५) कठोल तथा दाल आदि का, (१६) घी मक्खन दूध दही गुड़ शक्कर आदि विगयों की, (१७) कच्चे शाक-भाजी की, (१८) मधुर फल वाली केला के फल तरबूज काशीफल केला, द्राक्ष आदि की, (१९) खाने की वस्तुओं की, (२०) पानी की, (२१) मुखवास-सुपारी, लौंग आदि की (२२) सवारी की, वाहन की, (२३) जूते की, (२४) सोने बैठने के साधन की (२५) सचित्त वस्तु की, (२६) खान के पदार्थ मात्र की मर्यादा। इसके सिवाय देश काल के अनुसार दूसरी जो जो वस्तुएँ उपभोग-परिभोग में आती हों उनकी मर्यादा भी इस व्रत के आराधक को करनी चाहिये।

मर्यादा बाँधने में भी विवेक की आवश्यकता है। जिसमें अधिक हिंसा और अधर्म होने की सम्भावना हो, उन खान पान गहना-कपड़ा आदि पदार्थों का त्याग कर कम हिंसा और अधर्म वाली वस्तुओं का परिमाण बाँधना चाहिये।

खान-पान की वस्तुओं की मर्यादा बाँधने के साथ २ दिन में उपभोग करने के प्रमाण की भी मर्यादा बाँधनी चाहिये। खान पान के प्रमाण की मर्यादा नहीं हो तो मनुष्य अधिक खा बैठता है। पेट के परिमाण में नहीं, स्वादेन्द्रिय चाहे उस परिमाण में आज मनुष्य खाता हुआ दिखाई देता है अतः स्वादेन्द्रिय पर काबू पाने के लिये और योग्य प्रमाण में खाना खाने के लिये खान-पान की वस्तुओं का दैनिक उपभोग करने का प्रमाण बाँध लेने की भी आवश्यकता है।

रोम के एक सीजर बादशाह के लिये कहा जाता है कि उसे स्वादिष्ट वस्तुएँ खाने का बहुत शौक था। वह प्रति दिन नये २ व्यंजन कराता और इनमें से थोड़ा २ खाता था। पेट भर जाने पर यदि कोई व्यंजन खाने बाकी रह जाते तो वह उल्टी होने का चूर्ण फाँकता और यों पेट खाली होने पर बचे हुए व्यंजन खाता था। स्वादलोलुपता ने आखिरकार उसे रोगग्रस्त बना दिया और अन्त में वह अकाल में ही मृत्यु की शरण हुआ।

आज उल्टी करके खाने वाले सीजर जैसे मनुष्य भले ही दिखाई न देते हों, परन्तु उल्टी या टट्टी हो अथवा पेट दुखने आवे या अजीर्ण और गैस हो, वहाँ तक स्वाद के खातिर खाने वाले सीजर के छोटे भाई तो जरूर मिल जायेंगे। शरीर निरोगी रहे स्वादेन्द्रिय पर संयम रहे और मन वश में रहे इसके लिये खान-पान की मर्यादा के साथ उसका माप भी निश्चित करने की आवश्यकता है। इस व्रत में उपभोग—परिभोग का परिमाण बाँधने के लिये सूची दी गई है। इसका अर्थ कोई यह नहीं करे कि इस सूची में कई वस्तुएँ ऐसी हैं कि जिनके [illegible] सरलता से चल सकता है अतः इन वस्तुओं में

हो वही वस्तुएँ उपभोग परिभोग के लिये खुली रखनी चाहिये। अनावश्यक वस्तुओं का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

'जहाँ भोग है वहाँ रोग है,' यह कथन बिलकुल यथार्थ है। आज खान-पान की मर्यादा के अभाव में कई मनुष्य पशु-पक्षियों से भी अधिक स्वच्छंदी बने हुए दिखाई देते हैं। पक्षी तो रात में खाते तक नहीं हैं, जब कि मनुष्य के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। मनुष्य तो रात में भी दिन की तरह इच्छानुसार खाता है।

पशु-पक्षियों का खान-पान प्राकृतिक होता है जब कि मनुष्यों ने अपना जीवन अनावश्यक और अप्राकृतिक बना दिया है। चाय, बीड़ी तमाखू, गांजा अफीम जैसे विषैले पदार्थ, जिन्हें पशु सूंघते तक नहीं हैं मानव उन्हीं के गुलाम बनते जा रहे हैं। इस तरह की खान-पान की अमर्यादा से कई तरह के नये २ रोग भी बढ़ाते जा रहे हैं।

श्री ज्ञाता सूत्र में बताया गया है कि कई मुसाफिर अन जान जंगल में चले गये, जहाँ उन्होंने दिखने में सुन्दर कई अन जान फल खा लिये। फलतः वहीं ही खाने वाले मर गये। जिन्हें ऐसे अनजान फल नहीं खाने की मर्यादा थी उन्होंने नहीं खाये इससे वे बच गये।

यह उदाहरण हमें खान पान की वस्तुओं में मर्यादा रखने की आवश्यकता बताता है। आज के विलासी युग में तो मर्यादा की अतीव आवश्यकता है।

'भूख से कम खाना' शास्त्रकारों ने इसे ऊणोदरी-तप कहा है। यह तप करने से शरीर भी निरोगी रहता है और बिगड़ा हुआ

स्वास्थ्य भी दिन प्रति दिन सुधरता जाता है। आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर के जीवन-प्रसंग में फरमाया है कि भगवान् का शरीर निरोगी था, फिर भी वे ऊणोदरी-तप करते थे।

ऊणोदरी-तप शरीर को निरोगी रखने के लिये कई तरह से उपयोगी है। उसकी महत्ता आज भुला दी गई है जिसे महत्व देने की आज अतीव आवश्यकता है।

उदाहरण के रूप में आभूषणों की जीवन के लिये कोई आवश्यकता नहीं है। पुरुषों को आभूषणों की आवश्यकता नहीं है तो स्त्रियों को क्यों हो? वास्तव में देखा जाय तो स्त्रियों को गुलाम बनाये रखने के लिये पुरुषों ने यह उपाय खोज रखा है। आभूषणों से सज्जित नारी के अंग २ बन्धे रहते हैं। नाक और कान में आभूषण पहनने की स्वाभाविक अनुकूलता नहीं है अतः उसमें कृत्रिम छेद करने पड़ते हैं। स्त्रियों के नाक, कान, हाथ, पैर अंगुलियाँ गला कमर आदि अंग आभूषणरूपी बेड़ियों से सदा जकड़े रहते हैं। स्त्रियों की इससे अधिक पामर दशा और क्या हो सकती है?

बहिनों को ये बन्धन फेंक देने चाहिये। बहिनें यदि आभूषणों का मोह छोड़ देंगी तो अपने पति को अनेक पापों से बचा सकेंगी। सौभाग्यचिन्ह के रूप में बहिनें एक कांच की चूड़ी और कुंकु की टीकी रख सकती हैं, इनके अलावा सभी आभूषणों का त्याग करने में ही बहिनों का गौरव है। शास्त्रकारों ने कहा है कि *"आभरणा भारा"* सभी आभूषण भाररूप हैं।

बहिनों के सौन्दर्य में सोना, चाँदी और हीरा-मोती के आभूषण वृद्धि नहीं कर सकते हैं, शील, सेवा, सदाचार और सादगी द्वारा ही वे चमक उठेंगी।

न्यायमूर्ति रामशास्त्री का नाम आपने सुना होगा, वे बड़ा सादा जीवन व्यतीत करते थे। उनके जीवन का एक प्रसग है।

राजा माधवराव पेशवा के वे गुरु थे। माधवराव को उन पर अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा थी। उन्होंने रामशास्त्री को प्रधान न्यायाधीश बनाया।

एक बार नये साल के दिन रामशास्त्री की धर्मपत्नी रानी से मिलने राजमहलों में गई। उनके शरीर पर सादे वस्त्रों के सिवाय और कुछ नहीं था। रानी को उसका इतना सादापन अच्छा न लगा। उसने गुरुपत्नी का शरीर सोने-चाँदी के आभूषणों से और कीमती वस्त्रों से अलंकृत कर दिया। जाते समय सोने की पालकी में बैठाकर उसे विदाई दी।

पालखी वाले रामशास्त्री के घर पर आकर खड़े हो गये। किवाड़ बन्द थे अतः उन्होंने खटखटाया। रामशास्त्री किवाड़ बन्द कर मनुस्मृति पढ़ रहे थे। उन्होंने खिड़की में से अपनी पत्नी को सोने की पालकी में बैठी हुई देख कर पूछा—कौन है? किसका काम है? पालखी वाले ने उत्तर दिया पर शास्त्रीजी ने कहा—यह बात झूठी है इतने आभूषण पहनने वाली और सोने की पालखी में बैठने वाली मेरी पत्नी हो ही नहीं सकती है। यह कोई दूसरी बहिन होगी। कहीं तुम घर भूल गये लगते हो।

शास्त्रीजी की पत्नी अपने पति के कहने का भावार्थ समझ गई। उसने पालखी वालों को पालखी वापिस राजमहल में ले चलने को कहा। राजमहल में जाकर उसने ये सब आभूषण और वस्त्र उतार कर अपने पुराने वस्त्र धारण किये और घर आकर कहा—'स्वामीनाथ! अब द्वार खोलेंगे न'? रामशास्त्री ने द्वार खोलते हुए कहा—अब तुम मेरी पत्नी हो। सोना चाँदी के गहनों से शरीर का शृंगार करना तो अज्ञानी लोगों का काम है। हमें तो सादगी सदाचार, सेवा और सुनीति के ही गहने पहनने चाहिये।

शास्त्रीजी के ये शब्द बहिनों को याद रखने चाहिये। देवराणी जेठानी के बीच में झगड़ा कराने वाला और गृह क्लेश बढ़ाने वाला आभूषण का प्रश्न उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में बहिनों के लिये मुख्य रूप से विचारणीय है।

शरीर निभाने के लिये हवा पानी, अनाज और वस्त्र की आवश्यकता होती है। इनमें से हवा और पानी तो सबको सहज सुलभ है। शेष रहे अनाज और वस्त्र क्या इन दो पदार्थों के लिये ही सारी दुनिया दौड़ धाम कर रही है? ऐसी बात नहीं है। जमीन के एक छोटे से हिस्से में यदि मनुष्य चाहे तो अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अनाज और वस्त्र के लिए रूई तैयार कर सकता है। यह जो दौड़ धाम हो रही है वह तो अमर्यादित उपभोग और परिभोग के लिये मची हुई है। वैज्ञानिक शोध नित प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है परन्तु इसके पीछे भी उपभोग परिभोग की वृत्ति रही हुई है। अणुबम की शोध में भी इसी वृत्ति का पोषण हो रहा है।

एक आदमी दो मील पैदल चल कर जा सकता है। परन्तु बजाय इसके आज आदमी हजारों रुपयों की मोटर रखते हैं और

नौकर तथा पैट्रोल का खर्च करते हैं। एक पैसे के बाँस के पंखे से हवा खाई जाती है। बाँस का पंखा तो हाथ से चलाया जा सकता है, जब कि बिजली के पंखे के लिये बिजली घर (पावर हाउस) खड़ा करना पड़ता है। यही बात देशी दीपक और बिजली के लैम्प में भी रही हुई है।

इस तरह उपभोग-परिभोग के लिये आज मानव अनेक तरह के आरम्भ-समारम्भ कर रहा है। उसमें कोई मर्यादा उसने नहीं रखी है। यही वजह है कि आज कई अनिष्ट उससे पैदा होते जा रहे हैं।

भोगासक्त पुरुष को नरक के दुःख सहने पड़ते हैं, जबकि भोगों के त्यागी को स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं। गुलाब के फूल की सुगन्ध लेने वाले को जैसे काँटे की पीड़ा भी सहन करनी पड़ती है वैसे ही भोगासक्त मनुष्य को वेदना भी सहन करनी पड़ती ही है।

ज्ञातासूत्र में पुण्डरीक और कुण्डरीक दो राजकुमार भाइयों का वर्णन आता है। कुण्डरीक राज्य-भोगों का त्याग कर दीक्षा अंगीकार करता है और पुण्डरीक राजगद्दी पर बैठता है। पुण्डरीक का मन राज-काज चलाते हुए भी वैराग्य प्रधान था। वह श्रावक के बारह व्रतों का पालन करता था।

कुछ समय बाद मुनि कुण्डरीक राजा पुण्डरीक की राजधानी में आते हैं और वहाँ काफी लम्बे अर्से तक रहते हैं। इससे उनका मन भोगोपभोग की तरफ आकर्षित हो जाता है और एक दिन वे अपने भाई से राज्य की माँग भी कर बैठते हैं। पुण्डरीक अपने भाई को संयम में स्थिर रखने के लिये संयम से होने वाले लाभ और भोग से होने वाले नुकसान समझाता है। फिर भी

मुनि कुण्डरीक का मन संयम में स्थिर नहीं हुआ। अन्त में कुण्डरीक को राज्य सौंप कर पुण्डरीक दीक्षा अंगीकार करता है। कुण्डरीक आसक्तिपूर्वक भोगों का उपभोग करता है। फलस्वरूप रोगों से ग्रसित हो तीन दिन में ही आयुष्य पूर्ण कर सातवीं नरक में उत्पन्न होता है। वहाँ वह तैंतीस सागरोपम की स्थिति प्राप्त करता है।

दूसरी तरफ पुण्डरीक मुनि शुद्ध भाव से संयम की आराधना करता है और वह भी तीन दिन में आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न होता है और तैंतीस सागरोपम की स्थिति प्राप्त करता है।

एक को भोगोपभोग की आसक्ति से तैंतीस सागरोपम तक सातवीं नरक की तीव्र वेदना सहन करनी पड़ती है, जब कि दूसरे को भोगों के त्याग से तैंतीस सागरोपम तक अनुत्तर सुखों की प्राप्ति होती है। भोग और उसका त्याग दोनों के बीच में कितना अन्तर पड़ा हुआ है? भोगों से प्राप्त सुख क्षणिक होता है और इससे होने वाला दुःख अनेक गुणा अधिक होता है अतः भोगों की मर्यादा भी क्रमशः धीरे २ कम करते जाना चाहिये।

भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार

भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं—'सचित्त सम्बद्ध संमिश्राऽभिषव दुष्पक्वाहारा।'

किसी भी वनस्पति आदि सचित्त वस्तु का आहार, सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु का आहार, अधपकी वस्तु जो पूर्ण अचित्त न हुई हो ऐसा आहार, मादक द्रव्य

कम खाने का और अधिक फेंकने का हो वैसी वस्तु का आहार तथा अपक्वचरी वस्तु का आहार, ये पाँच भोजन सम्बंधी अतिचार हैं। सातवें व्रत के आराधक को इन अतिचारों से मुक्त रहना चाहिये।

कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार

उपभोग परिभाग परिमाण व्रत दो तरह का होता है, जैसा कि 'उपभोग-परिभोग-परिमाणव्वए दुविहे पन्नत्ते तंजहा भायणाओ य कम्मओ य।' भोजन से और कर्म से यह व्रत दो प्रकार का है। भोजन के अतिचार ऊपर बताये जा चुके हैं, अब कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार यहाँ बताये जा रहे हैं।

कर्म अर्थात् आजीविका के लिये किया जाने वाला व्यवसाय अथवा उपभोग परिभोग के पदार्थों को प्राप्त करने के लिये किया जाने वाला उद्योग। इसके पन्द्रह अतिचार हैं।

लकड़ी जलाकर कोयले बनाने का व्यवसाय जंगल खरीद कर उसकी लकड़ी काट कर बेचने का व्यवसाय, बैलगाड़ी आदि बेचने का धन्धा मिट्टी पत्थर हीरा, माणिक आदि के लिये खान खोदकर उन्हें बेचने का व्यवसाय हाथी दाँत आदि का धन्धा लाख बेचने का धन्धा, दारू आदि नशाली तथा अफीम सोमल आदि जहरीली वस्तुओं का धन्धा, यन्त्र तथा कारखानों द्वारा माल उत्पन्न करने का व्यवसाय, इन सब व्यापारों की गणना पन्द्रह कर्मदाना में की जाती है। ये और ऐसे ही अन्य महारम्भी व्यवसायों को त्याज्य समझना चाहिये।

जीवन की आवश्यकताएँ घटाने के साथ २ आवश्यकता की पूर्ति के लिये व्यापार भी अधिकाधिक अहिंसक होना चाहिए

और उसमें सत्य, नीति और प्रामाणिकता का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए।

अनार्य व्यवसाय मानव समाज के लिये अहितकर है। शास्त्रकारों की दृष्टि मानव-समाज का श्रेय करने की और अहिंसा का पालन व्यापक रूप से कराने की रही है। इसीलिये उन्होंने अहितकर हिंसक व्यापारों का निषेध फरमाया है। आज की दुनिया में महारम्भी, हिंसक और मानव समाज का अहित करने वाले धन्धे बढ़ गये हैं। ऐसे धन्धों में नफा भी विशेष रहता है। अतः श्रावक भी ये धन्धे अपनाने लग गए हैं। पैसे के खातिर श्रावकपना गुमाने में वे हिचकिचाते नहीं हैं।

आज सर्वत्र आर्थिक विषमता फैली हुई है। विश्व युद्ध और अनावृष्टि का भय रहा करता है। इसका मूल हिंसक और महारम्भी व्यापार ही है। उदाहरण के रूप में यन्त्रवाद को ही ले लीजिये, इसकी वजह से कोयला और लकड़ियों की काफी तादाद में आवश्यकता पड़ी हुई जिसके लिये जंगल कटने लगे, जंगलों की कमी होने से वर्षा का अभाव रहने लगा और इस कारण कभी २ अनावृष्टि का भय रहा करता है। सरकार अब यह बात समझ गई है और उसने नये करोड़ों वृक्ष बोने की शुरुआत भी कर दी है। परन्तु जब तक ये नये बोये गये वृक्ष बड़े न हो तब तक अनावृष्टि का भय तो बना रहेगा। यह सब अनिष्ट यन्त्रवाद का है फिर भी नित नये यन्त्र बढ़ते जा रहे हैं। नये वृक्ष बोये जा रहे हैं और पुराने वृक्ष काटे जा रहे हैं। यन्त्रवाद का अस्तित्व रहते यह परम्परा कैसे रुक सकेगी?

पृथ्वी का पेट फाड़ना भी अनय धन्धा है। जमीन में से ही घासलेट, पैट्रोल आदि निकाला जाता है। इस आधार से ही युद्ध चलते हैं।

ये सभी अनार्य धन्धे छोड़ने में और अल्प हिंसक अल्पारम्भी धन्धे अपनाने में ही मानव-समाज का श्रेय रहा हुआ है।

खेती के धंधे में आज पाप माना जाता है, जब कि अनाज के धंधे में उतना पाप नहीं माना जाता है। चमड़ा और हड्डी का व्यवसाय अपवित्र और पापी माना जाता है, जब कि घी आदि का व्यापार कम पाप वाला माना जाता है। यह मान्यता हमारी ऊपरी दृष्टिकोण पर ही आधार रखती है।

इस सम्बन्ध में दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाय तो स्थिति बिल्कुल उल्टी दिखाई देगी। सभी यह जानते हैं कि मनुष्य लाभ के लिए ही, कुछ न कुछ कमाने के लिए ही धंधा रोजगार करते हैं। इस दृष्टि से आप विचार करिये कि अनाज या घी के व्यापारी की और खेती करने वाले या चमड़ा, हड्डी के व्यापारी की भावना कैसी होगी? अनाज और घी के व्यापारी को अधिक नफा कब मिलेगा? जिस साल दुष्काल पड़ता है उस वर्ष अनाज महँगा हो जाता है। दुष्काल में अनाज और घास नहीं होता है। पशु मरने लगते हैं और घी का भाव बढ़ने लगता है और यदि सुकाल होता है तो अनाज सस्ता हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में जिस व्यापारी के पास अनाज के कोठार या घी के भण्डार भरे पड़े हों उसकी भावना कैसी होगी? दुष्काल पड़े और भाव ऊपर चढ़े तो अच्छा हो। धनलोभी व्यापारी की इसके सिवाय और कैसी भावना हो सकती है?

खेती चमड़ा और हड्डी का व्यापार करने वाले की भावना कभी दुष्काल न पड़े ऐसी ही रहती है। सुकाल में पशु मरते नहीं हैं। इससे चमड़े के भाव में वृद्धि हो जाती है। सुकाल में अनाज अधिक होता है और किसान मालामाल हो जाते हैं।

इससे आप समझ सकेंगे कि कौन-सा व्यापार अधिक पापी है और कौन सा कम? इसका आधार भावना पर ही रहा हुआ है।

एक समय एक अनाज का व्यापारी और चमड़े का व्यापारी दोनों साथ ही खरीदी करने निकले। मार्ग में दोनों ने एक बुढ़िया के यहाँ रात गुजारी। बुढ़िया ने अनाज के व्यापारी को घर के भीतर सुलाया और चमड़े के व्यापारी को बाहिर। दोनों व्यापारी खरीदी करके जब वापिस आए तब भी उस बुढ़िया के यहाँ रात को ठहरे। इस बार बुढ़िया ने चमड़े के व्यापारी को अन्दर सुलाया और अनाज के व्यापारी को बाहिर।

व्यापारियों ने इसका उस बुढ़िया से कारण पूछा। बुढ़िया ने कहा—भाइयो, जब तुम खरीदी करने जाते थे तब अनाज के व्यापारी की भावना ऊँची थी। वह सोचता था कि वर्षा के चिह्न नजर आवें और अनाज सस्ता हो तो अच्छा। उस समय चमड़े के व्यापारी की भावना कनिष्ट थी। वह सोचता था कि दुष्काल के चिह्न नजर आवें और चमड़ा सस्ता हो तो अच्छा। खरीदी कर लेने पर दोनों की भावना बदल गई है। अनाज का व्यापारी सोचता है कि दुष्काल पड़े और अनाज का भाव बढ़े तो नफा हो। चमड़े का व्यापारी सोचता है कि सुकाल हो तो चमड़े का भाव बढ़े और नफा मिले।

अतः जिस समय जिसकी भावना अच्छी थी, उसे अन्दर सुलाया था और जिसकी खराब थी उसे बाहिर।

सातवें व्रत की आराधना करने वाला पन्द्रह कर्मादान का व्यापार ही नहीं परन्तु पन्द्रह कर्मादान से बनी हुई वस्तुओं का उपयोग भी नहीं करता है—नहीं कर सकता है। किसी भी वस्तु

ये सभी अनार्य धन्धे छोड़ने में और अल्प हिंसक अल्पारम्भी धन्धे अपनाने में ही मानव-समाज का श्रेय रहा हुआ है।

खेती के धंधे में आज पाप माना जाता है, जब कि अनाज के धधे में उतना पाप नहीं माना जाता है। चमड़ा और हड्डी का व्यवसाय अपवित्र और पापी माना जाता है जब कि घी आदि का व्यापार कम पाप वाला माना जाता है। यह मान्यता हमारी ऊपरी दृष्टिकोण पर ही आधार रखती है।

इस सम्बन्ध मे दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाय तो स्थिति बिल्कुल उल्टी दिखाई देगी। सभी यह जानते हैं कि मनुष्य लाभ के लिए ही, कुछ न कुछ कमाने के लिए ही धधा रोजगार करते हैं। इस दृष्टि से आप विचार करिये कि अनाज या घी के व्यापारी की और खेती करने वाले या चमड़ा, हड्डी के व्यापारी की भावना कैसी होगी? अनाज और घी के व्यापारी को अधिक नफा कब मिलेगा? जिस साल दुष्काल पड़ता है उस वर्ष अनाज महँगा हो जाता है। दुष्काल में अनाज और घास नहीं होता है। पशु मरने लगते हैं और घी का भाव बढ़ने लगता है और यदि सुकाल होता है तो अनाज सस्ता हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में जिस व्यापारी के पास अनाज के कोठार या घी के भण्डार भरे पड़े हों उसकी भावना कैसी होगी? दुष्काल पड़े और भाव ऊपर चढ़े तो अच्छा हो। धनलोभी व्यापारी की इसके सिवाय और कैसी भावना हो सकती है?

खेती, चमड़ा और हड्डी का व्यापार करने वाले की भावना कभी दुष्काल न पड़े ऐसी ही रहती है। सुकाल में पशु मरते नहीं हैं। इससे चमड़े के भाव में वृद्धि हो जाती है। सुकाल में अनाज अधिक होता है और किसान मालोमाल हो जाते हैं।

इससे आप समझ सकेंगे कि कौन-सा व्यापार अधिक पापी है और कौन सा कम ? इसका आधार भावना पर ही रहा हुआ है।

एक समय एक अनाज का व्यापारी और चमडे का व्यापारी दोनों साथ ही खरीदी करने निकले। मार्ग में दोनों ने एक बुढिया के यहाँ रात गुजारी। बुढिया ने अनाज के व्यापारी को घर के भीतर सुलाया और चमड़े के व्यापारी को बाहिर। दोनों व्यापारी खरीदी करके जब वापिस आए तब भी उस बुढ़िया के यहाँ रात को ठहरे। इस बार बुढिया ने चमडे के व्यापारी को अन्दर सुलाया और अनाज के व्यापारी को बाहिर।

व्यापारियों ने इसका उस बुढिया से कारण पूछा। बुढिया ने कहा—भाइयो, जब तुम खरीदी करने जाते थे तब अनाज के व्यापारी की भावना ऊँची थी। यह सोचता था कि वर्षा के चिह्न नजर आवें और अनाज सस्ता हो तो अच्छा। उस समय चमडे के व्यापारी की भावना अनिष्ट थी। यह सोचता था कि दुष्काल के चिह्न नजर आवें और चमड़ा सस्ता हो तो अच्छा। खरीदी कर लेने पर दोनों की भावना बदल गई है। अनाज का व्यापारी सोचता है कि दुष्काल पड़े और अनाज का भाव बढ़े तो नफा हो। चमड़े का व्यापारी सोचता है कि सुकाल हो तो चमड़े का भाव बढ़े और नफा मिले।

अत जिस समय जिसकी भावना अच्छी थी, उसे अन्दर सुलाया था और जिसकी खराब थी उसे बाहिर।

सातवें व्रत की आराधना करने वाला पंद्रह कर्मादान का व्यापार ही नहीं, परन्तु पंद्रह कर्मादान से बनी हुई वस्तुओं का उपयोग भी नहीं करता है—नहीं कर सकता है। किसी भी वस्तु

का उपयोग करने से पहले यह सोचता है कि यह वस्तु अल्पारम्भी है या महारम्भी? कम से कम अल्पारंभी वस्तु सिवाय अन्य महारंभी वस्तु वह काम में नहीं लेता है।

यदि इस सातवें भोगोपभोग परिमाण व्रत का पालन न किया जा सके तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अमर्यादित भोगोपभोग की उपलब्धि के लिये हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। असत्य, चोरी, असंयम आदि अनिष्टों का जन्म भोगोपभोगों में से ही होता है। अमर्यादित भोगोपभोग अमर्यादित परिग्रह की वृत्ति का भी पोषण करता है। इससे इस व्रत की आराधना के लिये भोगों की मर्यादा करना अत्यावश्यक है। ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि सातवें व्रत का पालन करने वाला ही अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का आराधक बन सकता है।

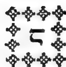


श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(८)

अनर्थदंड-विरमण-व्रत



८

अनर्थदंड-विरमण-व्रत



घड़ी, चाहे जिस कम्पनी की क्यों न हो, मशीन भी अच्छी हो परन्तु उसमें दो काँटे न हों तो वह बिलकुल बेकार होती है। बिना काँटों की घड़ियाल बन्द हो या चालू, पर उसका कोई मूल्य नहीं है। इसी तरह मानव के जीवन में भी यम और नियम रूपी दो काँटे न हों तो वह जीवित और मृत दोनों अवस्था में समान ही है। यम, नियम या संयम बिना मनुष्य की कोई कीमत नहीं है। गृहस्थाश्रम में रह कर यथायोग्य संयममय जीवन व्यतीत करने के लिये भगवान महावीर ने बारह व्रत फरमाये

हैं। जो इन व्रतों का आराधन नहीं करते हैं उनका जीवन बिना काँटों की घड़ी जैसा है।

आठवाँ व्रत अनर्थदण्ड-त्याग का है। अपने जीवन निर्वाह के लिये होने वाले सावद्य व्यापार के सिवाय अन्य सभी अधर्म व्यापारों से निवृत्ति लेना, कोई भी पाप प्रवृत्ति नहीं करना अनर्थदण्ड विरमण व्रत है। निरर्थक वस्तु का संग्रह करना भी अनर्थदण्ड है। इस व्रत में चार तरह से अनर्थदण्ड बताये गये हैं–

'चउत्थे अणत्थादण्डे पण्णते तंजहा अवज्झाणाचरियं पमाया चरियं, हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसे।'

अवज्झाणाचरिय अर्थात् अपध्यान ध्याना अनर्थदण्ड है। ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त्तध्यान, रुद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। इनमें पहले के दो अशुभ ध्यान हैं और दूसरे दो शुभ ध्यान हैं। अशुभ ध्यान ही अपध्यान है अतः आर्त्तध्यान या रुद्रध्यान धरना अनर्थदण्ड है।

अप्रिय वस्तु अप्रिय व्यक्ति या मन को अनिच्छनीय अरुचिकर प्रसंग उपस्थित हो, तब ऐसे अनिष्ट संयोगों से व्याकुल होना और इनसे दूर होने का ध्यान करना 'अनिष्ट संयोग आर्त्त ध्यान' है। सम्पत्ति, संतति या कीर्ति जैसी इच्छित वस्तु अपने से दूर हो तब उसके लिये अभिलाषा रखना 'इष्ट वियोग आर्त्तध्यान' है। शारीरिक या मानसिक पीड़ा दूर करने की व्याकुलता 'रोगचिन्ता आर्त्तध्यान' है। अप्राप्य भोगों को प्राप्त करने की लालच से तीव्र संकल्प करना 'निदान आर्त्तध्यान' है। ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान अनर्थदण्ड हैं।

किसी भी प्रिय व्यक्ति या वस्तु के लिये शोक करना, रोना, विलाप करना आदि भी आर्त्तध्यान है। हमारे समाज में रोने धोने की प्रथा ने भी अनिवार्य रूप धारण कर लिया है। इस रूढ़ि का समाज में इतना अधिक महत्त्व बढ़ गया है कि कोई शान्तिप्रिय व्यक्ति यदि इसका पालन न करे और इसके बदले प्रभुस्मरण या माला फेरने का कार्य-क्रम रखे तो समाज में उसकी निन्दा की जायगी। समाज में उसे बहिष्कृत-सा समझा जायगा। जैसे विवाहादि की शोभा बढ़ाने के लिये किराये के बाजे वाले, रेडियो, फिल्म और संगीत के आयोजन किये जाते हैं वैसे ही मृत्यु प्रसंग पर भी अपनी श्रीमन्ताई दिखाने के लिये श्मशान-यात्रा में काफी बड़ी तादाद में लोगों को बुलाया जाता है और रोने धोने के लिये कई बार किराये की औरतें भी रखी जाती हैं। ऐसा आर्त्तध्यान बढ़ाने में शोभा और प्रतिष्ठा समझी जाती है। यह अनर्थदण्ड का व्यापक स्वरूप है। इसे निकाचित आर्त्त ध्यान कहते हैं।

कई अल्पज्ञ भाई बहिन यह समझते हैं कि रोने में क्या पाप है? इसमें कहाँ छकाय जीवों का आरम्भ है? यह बात जरा विवेकपूर्वक समझने की है। आर्त्तध्यान दुर्गति में ले जाता है। उदाहरण के रूप में शास्त्रकारों ने हमारे समक्ष श्री देवी का उदाहरण पेश किया है।

"चक्रवर्ती की रानी श्री देवी चक्रवर्ती के वियोग से केवल छः मास तक विलाप करती है। फलस्वरूप उसे इस आर्त्तध्यान के सेवन से छठी नरक में जाना पड़ता है।" शास्त्रकारों का यह स्पष्ट फरमान है। उसने अपने जीवन में राँधना, दलना, खाँडना, धोना आदि का कुछ भी आरम्भ नहीं किया, फिर भी छः मास

के आर्त्तध्यान से ही उसे तम प्रभा नाम की छठी नरक में जाना पड़ा और वहाँ के अनन्त दुःखों को भोगना पड़ा। यह आर्त्त ध्यान का ही फल है।

केवल छः मास तक आर्त्तध्यान करने से ही श्रीदेवी को छठी नरक में जाना पड़ा तो जो व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के वियोग में वर्षों तक आर्त्तध्यान करते रहते हैं उनकी क्या स्थिति होगी? यह उन्हें स्वतः समझ लेना चाहिये।

ऐसा आर्त्तध्यान अनर्थदण्ड है। आठवें व्रत के आराधन से ऐसे आर्त्तध्यान का सेवन नहीं किया जा सकता है।

हिंसा सम्बन्धी असत्य सम्बन्धी चोरी सम्बन्धी विषय वासना सम्बन्धी विचार करना रौद्रध्यान है। जिसका मन क्रूर होता है वह रुद्र कहलाता है। ऐसी रुद्र आत्मा का ध्यान रौद्र ध्यान कहा जाता है। क्रोध द्वेष ईर्षा घमंड आदि मनोविकारों का चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानी दिन प्रतिदिन रुद्र बनता जाता है। उसके मुंह का सौम्य नष्ट हो जाता है और उसका चेहरा भयंकर बनता जाता है। वह दूसरों का अप्रिय बनता जाता है।

जैन-साहित्य में तन्दुल मच्छ की कथा आती है। वह चावल जैसा छोटा-सा मच्छ होने से तन्दुल मच्छ कहलाता था। एक दिन वह किसी बड़े मगर मच्छ के भापड़ पर बैठा हुआ था। मगर मच्छ का मुंह खुला हुआ था, जिसमें पानी के हिलोरों के साथ कई मछलियाँ आ जा रही थीं। तन्दुल मच्छ विचार करने लगा कि यह मगर मच्छ कितना मूर्ख है? इतने बड़े २ मत्स्य इसके मुंह में जा रहे हैं फिर भी यह खाता नहीं है। इसके स्थान

पर अगर मैं होऊँ तो सबको खा जाऊँ? किसी को भी जीवित न जाने दूं।

इस प्रकार रौद्रध्यान करते हुए अन्तर्मुहूर्त्त के अल्प समय में ही उसने सातवीं नरक का तेंतीस सागरोपम का आयुष्य बाँध लिया और नेरैया के रूप में वहाँ उत्पन्न हुआ। यह रौद्र ध्यान का परिणाम है।

तन्दुल मच्छ ने स्थूल हिंसा आदि का सेवन नहीं किया था, केवल रौद्रध्यान के कारण ही उसे सातवीं नरक में जाना पड़ा।

ये दोनों ध्यान दुर्ध्यान हैं। इन ध्यानों से जीव दुर्गति पाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या विचार करने मात्र से ही दुर्गति हो जायगी? यों देखा जाय तो विचार ही सब पापों के स्रोत हैं। विचारों में मलिनता आये बिना कोई भी पाप कर्म नहीं हो सकता है। संस्कृत में कहा है कि—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो।' अर्थात् मन ही बंध और मोक्ष का कारण है।

एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शन करने जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को ध्यानस्थ खड़े हुए देखा। राजा श्रेणिक के साथ उसकी सेना भी थी।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को देख कर सेना के दो आदमी बातें करने लगे। एक ने कहा—धन्य है इस राजर्षि को, जिन्होंने राज पाट छोड़ कर यह त्यागी-जीवन स्वीकार किया है। कैसे आत्म ध्यान में ये लीन हैं! यह सुनकर दूसरा बोल उठा—'अब रहने दे इनके त्याग की तारीफ करना, अपने छोटे से बालक के सिर पर

राज्य का भार डालकर ये निकल आये हैं। अभी उन पर एक दुश्मन राजा चढाई कर बैठा है जो उसका राज्य छीन कर उसे भिखारी बना देगा।' ये शब्द जैसे ही मुनि ने सुने वैसे ही उनकी ध्यानावस्था भी बदल गई।

श्रेणिक भगवान को नमस्कार कर पूछता है कि भगवन्! प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अभी मर जाय तो कहाँ जाय?

भगवान् ने कहा—सातवीं नरक में।

राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा त्यागी और तपस्वी मुनि सातवीं नरक में! यह कैसे हो सकता है?

इतने में राजा ने देवताओं को समवसरण में जाते हुए देखा। उसने भगवान् से पूछा - प्रभो! ये देव कहाँ जा रहे हैं?

भगवान् ने कहा—राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है अतः उसका उत्सव मनाने के लिये देव जा रहे हैं।

यह बात सुन कर श्रेणिक राजा के आश्चर्य का पार न रहा। राजा की शंका का निवारण करते हुए भगवान् ने फरमाया—'राजन्! जब तुम अपनी सेना सहित इधर आ रहे थे तब तुम्हारे दो सैनिक आपस में बात कर रहे थे कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के बाल पुत्र पर दुश्मन चढ़ आया है अतः उसका राज्य छीन लिया जायगा।' ये शब्द मुनि ने सुने और वे ध्यान से विचलित हो गये।

मुनि को अपने बाल-पुत्र का विचार हो आया कि मुझे जाकर अपने बाल पुत्र की रक्षा करनी चाहिये। शत्रु के साथ युद्ध कर

उन्हें परास्त करूँ और अपने पुत्र को सुरक्षित बनाऊँ।' ऐसे हिंसक विचार उनके दिमाग में चक्कर काट रहे थे। तब मैंने कहा था कि अभी मर जाय तो यह सातवीं नरक में जायगा। इसके बाद उन्हें शीघ्र ही अपनी स्थिति का भान हुआ। जिससे उन्हें अपने इन हिंसक विचारों के लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ। पश्चात्ताप की आग में दुर्ध्यान जल गया और वे धर्मध्यान शुक्लध्यान पर आरूढ हो गये। शुक्लध्यान की श्रेणी पर चढते चढते उन्हें केवलज्ञान हो गया है।'

यह स्पष्टीकरण सुन कर राजा श्रेणिक के मन का समाधान हुआ। मन मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण कैसे बनता है? यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये इस व्रत में दुर्ध्यान से बचने को कहा गया है।

यदि मनुष्य कुछ विवेकपूर्वक विचार करे तो अपध्यान से बच सकता है। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि प्रसंगों में तथा क्रोध द्वेष आदि उत्पन्न हो तब निमित्त के बजाय उपादान का विचार किया जाय तो मन शान्त रह सकता है। निमित्त तो केवल निमित्त मात्र ही है। सब कुछ उपादान की वजह से ही बना करता है अतः मनुष्य को अपने उपादान का विचार करना चाहिये। उसे दुर्ध्यान से बच कर सुध्यान में स्थिर होना चाहिये।

अशुभ विचारों का सेवन और असुरों का सहवास दोनों समान हैं। अशुभ विचार मानव-जीवन को नीचे ले जाता है। अपने जीवन का विघातक शत्रु अशुभ विचारों जैसा दूसरा कोई नहीं है। एक तत्त्वज्ञानी ने कहा है कि—

पावकम्मोवएसे—

यह अनर्थदंड का चौथा प्रकार है। 'पावकम्मोवएसे' अर्थात् पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश से पापकर्म में प्रवृत्ति होती हो वह उपदेश अनर्थदंड है। पापकर्म में सलाह या स्वीकृति देना भी इसमें आ जाता है। अपने में रही हुई कुटेवों का दूसरों को भी आदी बनाना जैसे कि किसी को बीड़ी पीने की आदत है, वह दूसरों को भी आग्रह करके बीड़ी पीने की आदत डाले तो यह भी पापकर्म उपदेश ही है। यदि मनुष्य अपनी कुटेव नहीं छोड़ सकता हो तो उसे कम से कम इस व्यसन का प्रचार तो नहीं करना चाहिये। अपने में जो व्यसन हों उन्हें कुटेव के रूप में समझना चाहिये और दूसरों को उनका अनुकरण नहीं करने की सलाह देना चाहिये।

इस व्रत के धारक को इन चार तरह के अनर्थदंड से बचकर रहना चाहिये।

इस व्रत के पाँच अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—*कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या समीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि।*

कन्दर्प कौत्कुच्य—विकार वर्द्धक शब्दों का सुनना या बोलना कन्दर्प है। नाटक तथा सिनेमा देखने वाले इस अतिचार में से कैसे बच सकते हैं? विकार-वर्द्धक और विलासवर्द्धक चेष्टा करना या देखना कौत्कुच्य है। ऐसे दृश्यों वाली फिल्में भी इस व्रतधारियों से देखी नहीं जा सकती। सुशील स्त्री पुरुष सिनेमा में पाँव भी नहीं रख सकते हैं। कुलीन मनुष्य-लज्जा, मार्गपसन्द

करेंगे, पर शराब या मांस की दुकानों के पास होकर या अमर्यादाचारी स्त्रियों के निवासस्थानों के निकट होकर गुजरना पसन्द नहीं करते। इसी तरह चित्रगृह का मार्ग भी उनके लिये त्याज्य होना चाहिये।

मौखर्य—सम्बन्ध रहित अथवा अनावश्यक बहुत बोलते रहना 'मुहरिये' या 'मौखर्य' नामकतीसरा अतिचार है। वचनपात वीर्यपात से भी अधिक नुक्सानकारक माना जाता है। बिना विचारे बोलना भी अनर्थदण्ड का ही एक प्रकार है। वचन का सयम रखने वाला अनेक तरह के झगड़ों से बच सकता है। एक प्रचलित कहावत है कि *'न बोल्या मा नौ गुण'* बिल्कुल ठीक ही है। वाचाल या अधिक बोलने वाला व्यक्ति कई बार हानिकारक सिद्ध होता है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार पाव सेर दूध पीने से जितनी शक्ति आती है उतनी शक्ति केवल एक अक्षर के उच्चारण करने में ही नष्ट हो जाती है। अधिक बोलने से मानसिक शान्ति और आत्म शान्ति का भी भग होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन में भगवान् फरमाते हैं कि—*'बहुयं मा य आलवे'* अर्थात् अधिक मत बोलो। अधिक बोलना भी वाचिक दूषण है। जो मनुष्य वाणी का सयम रख सकता है उसकी वाणी का प्रभाव भी अद्भुत होता है। मौन सेवन से अनेक लाभ होते हैं। मौन से मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। मनुष्य को प्रतिदिन पाव आध या एक घण्टे का मौन अवश्य रखना चाहिये ऐसी आदत बना लेनी चाहिये। भगवान् महावीर ने दीक्षा अगीकार कर साढ़ा बारह वर्ष तक मौन धारण कर साधना की थी। बौद्ध ने भी मौन सेवन किया था। महात्माजी भी हर सोमवार को मौन रखते थे।

मौन के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि—Silence is the rest of the mind and is to the spirit what sleep is to the body, nourishment and refreshment It covers folly, Keeps secrets, avoids disputes and prevents sin मौन मन का विश्राम है, निद्रा से जैसे शरीर को आराम और ताजगी मिलती है, वैसे ही मौन से भी आत्मा को आराम और ताजगी मिलती है। मौन रखने से कई बार अपना अज्ञान छिपाया जा सकता है, जो बात न कहनी हो तो उसे गुप्त रखा जा सकता है। मौन से कई झगड़े टाले जा सकते हैं और कई पापों से बचा जा सकता है।

एक दूसरे विद्वान् ने कहा है कि Tho your tongue, keep it within the banks, a rapidly flowing river soon collects mud तुम अपनी जिह्वा को बाँध कर रखो और दोनों होठ रूपी किनारों के अन्दर ही रहने दो। जो नदी वेग से बहती है उसमें कूड़ा-कचरा जल्दी इकट्ठा हो जाता है। इसी तरह जो ज्यादा बोला करता है, वह लड़ाई झगड़ा जल्दी कर बैठता है अतः मितभाषी होना शारीरिक और आत्मोन्नति के लिये श्रेयस्कर है।

परन्तु मौन की आराधना आज तो दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। आज के युग को 'कोलाहलमय युग' कहें तो भी असमीचीन न होगा। आज का समाज क्या है हो-हल्ला करने वाली एक संस्था। एक लेखक द्वारा लिखे गये ये शब्द यथार्थ ही हैं। आज का सामाजिक जीवन दौड़ धाम प्रधान और कोलाहलमय बन गया है। शहर की गलियों में होटल या रेस्टोराँ में बाजार या आम पब्लिक स्थानों पर चले जाइये सर्वत्र दौड़ धाम

और कोलाहल ही मचा दिखाई देगा। रेडियो, ग्रामोफोन और लाउडस्पीकर इस कोलाहल के मुख्य प्रचारक हैं। मनुष्य को आज बिना बातचीत का जीवन शुष्क प्रतीत होता है। इस यन्त्र-युग ने तो आज मानवमात्र की शान्ति का अपहरण कर लिया है।

फिर भी यदि मनुष्य को सच्ची शान्ति की चाहना होगी तो उसे 'मौन' की महत्ता समझनी ही पड़ेगी और देर अबेर उसे अपने जीवन में स्थान देना ही होगा। यूरोप और अमेरिका के लोग भी आज कोलाहलमय समाज से घबरा गये हैं। उन लोगों ने तो वहाँ इसकी विरोधी संस्थाएँ (Anti noise leagues) भी स्थापित की हैं।

संस्कृत में एक सुभाषित है—'मौनं सर्वार्थसाधनम्' मौन सब वस्तुओं का साधक है। अधिक बोलने वाला सत्य से विमुख होता है। जितने शब्द कम होते हैं सत्य का अंश उतना ही अधिक होता है। सत्य-साधक को मौन का विशेष रूप से अवलम्बन लेना पड़ता है। भोजन के उपवास से शब्दों का उपवास अधिक बढ़ा चढ़ा होता है जिससे उसका भाव तप में समावेश किया गया है। मनुष्य को जीभ का उपयोग करने के बजाय कर्तव्य पालन के लिये हाथ का उपयोग अधिक करना चाहिये।

वाचालता की तुलना में तलवार और अग्नि तो अल्प हानिकर शस्त्र हैं। जीभ को वश में रखने के लिये भिन्न २ अनेक विद्वानों ने कई तरह से समझाया है। जीमरमेन कहता है कि — Open your mouth and purse Cautiously and your stock of wealth and reputation shall, at least in repute, be great तुम अपने पैसों की थैली और मुँह को

मौन के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए एक विद्वान् ने कहा है कि—Silence is the rest of the mind and is to the spirit what sleep is to the body, nourishment and refreshment It covers folly, Keeps secrets, avoids disputes and prevents sin मौन मन का विश्राम है, निद्रा से जैसे शरीर को आराम और ताजगी मिलती है, वैसे ही मौन से भी आत्मा को आराम और ताजगी मिलती है। मौन रखने से कई बार अपना अज्ञान छिपाया जा सकता है, कोई बात न कहनी हो तो उसे गुप्त रखा जा सकता है। मौन से कई झगड़े टाले जा सकते हैं और कई पापों से बचा जा सकता है।

एक दूसरे विद्वान् ने कहा है कि The your tongue, keep it within the banks, a rapidly flowing river soon collects mud तुम अपनी जिह्वा को बाँध कर रखो और दोनों होठ रूपी किनारों के अन्दर ही रहने दो। जो नदी वेग से बहती है उसमें कूड़ा-कचरा जल्दी इकट्ठा हो जाता है। इसी तरह जो ज्यादा बोला करता है, वह लड़ाई झगड़ा जल्दी कर बैठता है अत मितभाषी होना शारीरिक और आत्मोन्नति के लिये श्रेयस्कर है।

परन्तु मौन की आराधना आज तो दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। आज के युग को 'कोलाहलमय युग' कहें तो भी असमीचीन न होगा। आज का समाज क्या है हो-हल्ला करने वाली एक संस्था। एक लेखक द्वारा लिखे गये ये शब्द यथार्थ ही हैं। आज का सामाजिक जीवन दौड़ धाम प्रधान और कोलाहल मय बन गया है। शहर की गलियों में होटल या रेस्टोरां में, बाजार या आम पब्लिक स्थानों पर चले जाइये, सर्वत्र दौड़ धाम

और कोलाहल ही मचा दिखाई देगा। रेडियो, ग्रामोफोन और लाउडस्पीकर इस कोलाहल के मुख्य प्रचारक हैं। मनुष्य को आज बिना बातचीत का जीवन शुष्क प्रतीत होता है। इस यन्त्र-युग ने तो आज मानवमात्र की शान्ति का अपहरण कर लिया है।

फिर भी यदि मनुष्य को सच्ची शान्ति की चाहना होगी तो उसे 'मौन' की महत्ता समझनी ही पड़ेगी और देर अबेर उसे अपने जीवन में स्थान देना ही होगा। यूरोप और अमेरिका के लोग भी आज कोलाहलमय समाज से घबरा गये हैं। उन लोगों ने तो वहाँ इसकी विरोधी संस्थाएँ (Anti noise leagues) भी स्थापित की हैं।

संस्कृत में एक सुभाषित है—'मौनं सर्वार्थसाधनम्' मौन सब वस्तुओं का साधक है। अधिक बोलने वाला सत्य से विमुख होता है। जितने शब्द कम होते हैं सत्य का अंश उतना ही अधिक होता है। सत्य-साधक को मौन का विशेष रूप से अवलम्बन लेना पड़ता है। भोजन के उपवास से शब्दों का उपवास अधिक बढ़ा चढ़ा होता है, जिससे उसका भाव तप में समावेश किया गया है। मनुष्य को जीभ का उपयोग करने के बजाय कर्त्तव्य पालन के लिये हाथ का उपयोग अधिक करना चाहिये।

वाचालता की तुलना में तलवार और अग्नि तो अल्प हानिकर शस्त्र हैं। जीभ को वश में रखने के लिये भिन्न २ अनेक विद्वानों ने कई तरह से समझाया है। जीमरमेन कहता है कि — Open your mouth and purse Cautiously and your stock of wealth and reputation shall, at least in repute, be great तुम अपने पैसा को

विचारपूर्वक बोलना, जिससे कि तुम्हारी सम्पत्ति और कीर्ति में वृद्धि होगी। पाइथे गोरास कहता है कि—A wound from a tounge is worse than a wound from a sward for the latter effects only the body, the former the spirit तलवार के घाव से भी शब्दों का घाव अधिक खराब होता है, क्योंकि तलवार तो शरीर को ही चोट पहुँचाती है, परन्तु शब्द तो आत्मा का चोट पहुँचाते हैं। एक दूसरे विद्वान ने कहा है कि—By examining the tounges, physicians find out the diseases of the body and philosophers, the diseases of the mind and heart जैसे डाक्टर जीभ की परीक्षा द्वारा शरीर के रोगों का पता लगा लेते हैं, वैसे ही तत्त्ववेत्ता भी मनुष्य की जीभ से मन और आत्मा के रोगों को समझ लेते हैं। एक जापानी कहावत है कि—the tounge is but three inches long yet it kill a man six feet high जीभ केवल तीन इञ्च की है पर वह छः फीट ऊँचे आदमी को मार सकती है।

जीभ को आप मित्र भी बना सकते हैं और दुश्मन भी। हित मित और मधुर वचन बोलने से वह तुम्हारी मित्र बनती है और इसके विपरीत बिना विचारे कठोर शब्द बोलने से शत्रु। एक मनुष्य जगल में [illegible] एक तरफ सोने की खान और दूसरी तरफ को[illegible] उसे कुदाली हुआ कहता है कि [illegible] कर लो खान तब कहिये, कौन [illegible] कोयले की खान [illegible]

मिली हुई है। इस जीभ का उपयोग मधुर वचन में न कर कटु वचन बोलने में करना सुवर्ण के बजाय कोयले की खान को खोदने जैसा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीभ पर संयम रखो और इसे अपना मित्र बनाओ। 'मौखर्य' नामक अतिचार जीभ पर संयम रखने को ही कहता है। इस अतिचार से मुक्त होने के लिये वाचालता कम कर मौन की साधना करनी चाहिए।

असमीक्ष्याधिकरण—निष्प्रयोजन दूसरों को हिंसा के साधन देना 'असमीक्ष्याधिकरण' है, जो कि चौथा अतिचार है। भाव से किसी का अपमान करने का विचार बना रखना, इसका भी इस अतिचार में समावेश हो जाता है।

उपभोगाधिकत्व—अपनी आवश्यकता से अधिक कपड़े, बूट, सोने आदि वस्तुओं का संग्रह करना 'उपभोगाधिकत्व' नाम का पाँचवाँ अतिचार है। धोतीजोड़े, कोट, कमीज साड़ियाँ, दागिनें, हीरा मोती, माणिक और नीलम के सेट आदि आवश्यकता से अधिक परिमाण में रखना 'उपभोगाधिकत्व' है। पहनने वाला एक और सेट अनेक, बैठने वाला एक और कुर्सियें अनेक यह परिस्थिति इस व्रत के आराधक के लिये त्याज्य है।

एक आदमी रेल, ट्राम या बस में अधिक जगह रोक कर नहीं बैठ सकता है। रेल में भीड़ होने पर भी एक आदमी चार आदमियों की जगह रोक कर बैठे तो वह असभ्य कहा जाता है। तब फिर धनाज शक्कर और अन्य वस्तुओं की देश में जब कमी हो तब एक मनुष्य चार आदमी को पर्याप्त हो सके इतनी वस्तुओं का संग्रह कर बैठे तो क्या वह उचित कहा जा सकता है? सामाजिक दृष्टि से भी यह वृत्ति उचित नहीं है।

आवश्यकताओं को घटाने में आर्यत्व रहा हुआ है
बढ़ाने में अनार्यत्व। आवश्यकताएँ बढ़ाने से बढ़ती हैं
घटाने से घटती हैं। हमारे पूज्य गुरुदेव अर्थदण्ड की वि
व्याख्या करते हैं। वे फरमाते हैं कि शरीर निर्वाह के लिये भो
वस्त्र लेना अर्थदण्ड है, पर रसास्वाद के लिये भोजन करना
विलास के लिये वस्त्राभूषण धारण करना अनर्थदण्ड है। सू
सादी के वस्त्र अर्थदण्ड है जब कि चमकते हुए मील के
रेशमी वस्त्र पहनना अनर्थदण्ड है। सौभाग्य की लाखी की
अर्थदण्ड है सोना चाँदी मोती आदि की चगड़ी अनर्थदण्ड
सौभाग्य बिन्दु अर्थदण्ड है, लिपस्टीक पाउडर और नख रंग
चीजें अनर्थदण्ड हैं। मिट्टी के और सादी धातु के बर्तन अर्थ
हैं, सोना-चाँदी के बर्तन अनर्थदण्ड हैं। रोटी, दाल, शाक अ
है, जब कि चटणी, मुरब्बा अचार मसाला, सेव, कचोरी
उत्तेजक वस्तुएँ अनर्थदण्ड हैं। तृषा शान्त करने के लिये
का उपयोग अर्थदण्ड है, जब कि स्वाद के लिये बरफ श
सोडा, लेमन आदि पीना अनर्थदण्ड है। पैदल चलना अ
है, जब कि रेल, मोटर, एरोप्लेन का अनावश्यक प्रवास अनर्थदं

आज दुनिया में विज्ञान की नई-नई शोधों ने अनेक
र्थक वस्तुएँ पैदा की हैं। वस्तुओं के उत्पादन के साथ पा
परम्परा भी बढ़ी है। इस दृष्टि से अन्य पापों से अनर्थदण
पाप अधिक ज्ञात होता है। इसे कम किये बिना जीवन की
होना सम्भव नहीं है।

समाज इस अनर्थदण्ड को समझे और उसका त्या
तो अनर्थों का नाश हो सकता है। अनर्थदण्ड का सेवन
उत्पन्न करता है और उसका त्याग अनर्थों का नाश करता है

अनर्थदण्ड का त्याग कर जीवन को शुद्ध करने पर ही सामायिक व्रत में प्रवेश किया जा सकता है। अनर्थदण्ड से मन तन्दुलमच्छ की तरह पाप-प्रवृत्ति में मग्न रहता है। वचन कौए की तरह कर्कश होता है, काया श्वान की तरह चपल रहती है। ऐसे योग वाले सामायिक में कैसे प्रवेश कर सकते हैं? सामायिक व्रत के आराधक को पहले अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिये इसलिये सामायिक व्रत से पहले अनर्थदण्ड का व्रत रखा गया है।

किसान खेती करने से पूर्व जैसे निरर्थक घास-फूस उखाड़ फैंकता है वैसे ही सामायिक में समभाव के बीज बोने से पहले अनर्थदण्ड के घास-फूस को उखाड़ फैंकना चाहिये। अनर्थदंड का त्याग कृत्रिम जीवन जीने वाले को बाघ जैसा विकराल लगता है, जब कि प्राकृतिक जीवन जीने वाले को बड़ा सरल लगता है।

अनंत ज्ञानी प्रभु ने अनंत ज्ञान द्वारा अनंत उपकार किये हैं उसमें भी यह अनर्थदण्ड का स्वरूप समझा कर महान् उपकार किया है। सब पापों का मूल अनर्थदण्ड ही है अतः उसका त्याग कर समताभाव में आने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है।

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म शासन छोड़ ही नहीं

सकता, उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं। जैसे—भीषण बवण्डर सुमेरु पर्वत को।

समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह संवृत करते हुये पापों से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिये। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।



श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(९)

सामायिक-व्रत



सामायिक-व्रत



शरीर के पोषण के लिये जैसे भोजन की आवश्यकता होती है वैसे ही आत्म पोषण के लिये भी भाव भोजन की आवश्यकता रहती है। शरीर रक्षण के लिये योग्य खुराक न मिले तो शरीर दुर्बल और तेजोहीन हो जाता है। ऐसे ही आत्मा भी भाव-खुराक के अभाव में तेजोहीन और निर्बल हो जाती है। आज मनुष्यों में आत्म-बल का जो अभाव प्रतीत होता है उसका कारण यही है कि उसे भाव पोषण नहीं मिलता है। 'शरीर की खुराक अन्न है और आत्मा की खुराक 'सामायिक' है। इस ही

सुराक के नाम से भी कहते हैं। श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी ने सामायिक को गृहस्थ धर्म में नववाँ स्थान प्रदान किया है।

सामायिक करो या आत्मस्वरूप की प्रार्थना, दोनों ही समभाव और सत्य की उपासना है। आत्मा को बलवान बनाने के लिये सामायिक की उपासना अत्यंत आवश्यक है। हमारे अंधकारमय जीवन को प्रकाशित करने के लिये और पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रहा हुआ ममत्व दूर कर आत्मगुणों में रमण करने के लिये सामायिक की अत्यावश्यकता है।

सामायिक चित्त को स्थिर बनाने की एक तालीम विशेष है। कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारा चित्त ही स्थिर नहीं रहता है, तब फिर सामायिक करके क्या करेंगे? यह बात सच है कि मनुष्य का चित्त स्थिर नहीं रहता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि चित्त को स्थिर बनाने के लिये ही सामायिक व्रत का आयोजन किया गया है। प्रतिदिन सामायिक द्वारा चित्त स्थिर करने का अभ्यास किया जावे तो धीरे २ स्थिरता आ जायगी। चित्त को स्थिर करने की दुनिया में अगर कोई मशीन है तो वह 'सामायिक' ही है।

सामायिक का अर्थ समभाव होता है। सम अर्थात् समता और आय अर्थात् लाभ, जिससे समता का या समभाव की प्राप्ति हो उसे सामायिक कहते हैं। ... न

सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तह
माणाओ। अर्थात् लाभ
जीवन में या मरण में
समभाव रखना ही

संपत्ति और विपत्ति सब को एक ही तरह से देखना समभाव है। जब ऐसी दृष्टि प्राप्त हो जाती है तब सामायिक सिद्ध हुई कही जा सकती है।

समभाव का अर्थ सामायिक की क्रिया तक ही सीमित नहीं होना चाहिये। बल्कि उसे सभी प्रवृत्तियों में घुलमिल जाना चाहिये। सूर्य में रहा हुआ प्रकाश किसी से छुपा नहीं रह सकता है। फूल में रही हुई सुवास भी तुरन्त प्रकट हो जाती है। चन्द्रमा की शीतलता और अग्नि की उष्णता प्रकट हुए बिना रहती नहीं है और जैसे हीरे की चमक शीघ्र प्रतीत हो जाती है वैसे ही सामायिक के साधकों का समभाव भी उनकी प्रत्येक क्रियाओं में प्रकट हुए बिना रहता नहीं है। सामायिक का साधक घरम हो या दुकान में, जेल में हो या कचेरी में, स्मशान में हो या आलीशान बगले में, सब जगह वह समभावमय ही दिखाई देता है। इस प्रकार समभाव की साधना को जीवन-व्यापी बनाना ही सामायिक का ध्येय है।

सामायिक व्रत अन्य सभी व्रतों का आधारभूत व्रत है। आपने मधुमक्खियों के छत्ते को देखा होगा। उसमें अनेकों मक्खियाँ काम करती हैं। उन मक्खियों में एक रानी मक्खी होती है जिसके आश्रित हो अन्य सभी मक्खियाँ रहती हैं। वह रानी मक्खी जब तक छत्ते में रहती है तब तक अन्य सभी मक्खियाँ भी इसमें रहती हैं। परन्तु जब वह उड़ जाती है तो अन्य सभी मक्खियाँ भी उसके साथ उड़ जाती हैं। यही हाल सामायिक व्रत का और अन्य व्रतों का भी है। जहाँ तक समभावरूप का सद्भाव होता है वहाँ तक ही अन्य सभी व्रत इसके कायम नहीं रह सकते हैं।

आइये अब हम यह देखें कि सामायिक का अधिकारी कौन बन सकता है? सामायिक की साधना में जैन धर्म का सार आ जाता है। सामायिक यानी समभाव को प्राप्त करने की एक विशिष्ट तालीम। सामायिक यानी समता के सागर में डुबकी मारना। आप सब बम्बई में रहते हैं अत यहाँ के 'स्वीमिंग बाथ' से आप अपरिचित न होंगे। यह समुद्र में लाखों रुपयों के खर्च से बनाया गया है। इसमें किसी को तैरने जाना हो तो १० रु० प्रवेश फी देनी पड़ती है। प्रविष्ट होने के पहले शरीर की जाँच भी की जाती है। प्रविष्ट होने वाले को डाक्टर का सार्टिफिकेट भी पेश करना पड़ता है कि मेरे शरीर में कोई चेपी रोग नहीं है। इसके बाद इन्सपेक्टर उसकी जाँच करता है और फिर उसे प्रविष्ट कर लिया जाता है।

स्वीमिंग बाथ' में तैरने आने वाला सीधा वहाँ नहीं जाता है। पहले उसे शरीर के मैल को दूर करने के लिये दूसरे स्थान पर नहाना पड़ता है। इसके बाद वह स्वीमिंग बाथ में तैरने का अधिकारी बनता है।

समुद्र के खारे पानी में नहाने के लिये भी जब इतनी विधि करनी पड़ती है तब सामायिक रूप समता के शान्त समुद्र में नहाने के लिये इससे भी अधिक विधि करनी पड़े तो यह स्वाभाविक ही है। अनर्थदण्ड के चेपी रोग से जो मुक्त होता है उसे ही समता-रस के समुद्र में स्नान करने का शास्त्रकारों ने अधिकार दिया है दूसरों को नहीं।

कुछ लोग सामायिक का अर्थ निवृत्ति लेना ही करते हैं। जो कि सामायिक का अधूरा अर्थ है। क्योंकि निवृत्ति भी बिना प्रवृत्ति के टिक नहीं सकती है अतः सामायिक में सावद्य योग का

हरणं तो करना पड़ता है, परन्तु साथ ही साथ निरवद्य यो
प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। बिना शुभ प्रवृत्ति किये अशुभ प्रवृ
से निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसीलिये सामायिक का अ
करते हुए एक जगह कहा गया है।

सामाइयं नाम सावज्ज-जोग परिवज्जणं।
निरवज्ज-जोग पडिसेवणं च॥

सावद्ययोग का त्याग कर निरवद्ययोग में प्रवृत्ति कर
सामायिक है।

मन, वचन और कर्म में सावद्यता न रहे यही साम
का उद्देश्य है। सामायिक करने वाले के मन, वचन औ
क्रमशः निर्विकार और पवित्र होते जाते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में सामायिक की इस प्रकार व्य
की गई है—

जो समो सव्व-भूएसु तसेसु थावरेसु य,
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं।

जिससे त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभ
उसे सामायिक व्रत कहते हैं। यों तो सामायिक शारीरिक
है पर मन पर उसका मुख्य आधार है। क्योंकि शरीर स्थि
पर मन अस्थिर हो तो सामायिक की साधना नहीं की जा
है। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर ध्यानस्थ था, पर मन
अस्थिर था शुभ ध्यान से रहित था, तब वे सातवीं न
आयुष्य बाँध रहे थे। परन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने
क्षण में ही आत्म भाव में स्थिर किया तो केवल्य की

थी। इस प्रकार सामायिक का मुख्य आधार मन की स्थिरता पर रहा हुआ है। यह स्थिरता केवल एक मुहूर्त की ही नहीं, पर जीवन-व्यापी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। अपनी दिनचर्या में विषम भाव के बदले समभाव की वृत्ति कायम करने का प्रयास करना चाहिये।

प्राणी मात्र में स्वसुख और स्व-रक्षण की भावना रही हुई है। लट को अंगुली का स्पर्श होते ही वह मुड़ जाती है। स्व-रक्षण की वृत्ति से वह अपना शरीर संकुचित कर लेती है ताकि कोई उसे मारे नहीं। मनुष्य पशु के सामने लकड़ी लेकर खड़ा हो जाय, तो वह इधर उधर दौड़ने लग जाता है, और मनुष्य भी जब कभी अपने सामने पशुओं को लड़ते देखता है तो उनसे बचने के लिये वह एक ओर खिसक जाता है। इस प्रकार चींटी से लेकर मनुष्य तक सब में स्वरक्षण की वृत्ति रही हुई है। इस स्वरक्षण की वृत्ति को सर्व रक्षण की वृत्ति में बदल देना ही सामायिक का ध्येय है। सामान्यतः मानव की दृष्टि अपने देह इन्द्रिय और भोगों तक का सीमित रहती है। कुछ आगे बढ़ती है तो परिवार तक पहुँच कर स्थिर हो जाती है। इस सीमित दृष्टि को समभावी बनाकर विश्व-व्यापक बनाना ही सामायिक का ध्येय होता है। जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे दूसरों को भी वह प्रिय है। ऐसा समझ कर दूसरों को कष्ट न देना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रशस्त करना ही सामायिक का कर्तव्य होना चाहिये। समभाव की प्राप्ति के साथ २ राग द्वेष को जीतने में ही सामायिक की सिद्धि रही हुई है।

जहाँ सामायिक होती हो, वहाँ द्वेष, क्लेश, लड़ाई-झगड़े या युद्ध कभी नहीं हो सकते हैं। न ऊँच-नीच के भेद भाव ही

कायम रह सकते हैं। वहाँ स्पर्शास्पर्श की कृत्रिम दीवालें भी नहीं होता हैं। परन्तु आज तो ऊँच-नीच के भेदभाव बढ़ते जा रहे हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में और कुटुम्ब-कुटुम्ब के बीच में झगड़े चल रहे हैं। एक समाज का दूसरे समाज से विरोध चल रहा है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से युद्ध की बातें कर रहा है। इन सब घर्षणों को दूर करने की एकमात्र औषधि 'समताभाव' ही है, जो कि सामायिक द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

सामायिक के दो प्रकार हैं—द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक। जीवन की हरएक प्रवृत्ति में समता रखना भाव सामायिक है। भाव सामायिक की सिद्धि के लिये साधनरूप जो क्रिया की जाती है उसे 'द्रव्य सामायिक' कहते हैं। साधक का ध्येय द्रव्य सामायिक को भाव सामायिक बनाने का होना चाहिये और इस के लिये उसे प्रयत्नशील भी रहना चाहिये।

साधारणतया रिस्टवॉच (हाथ घड़ी) में एक बार चाबी दे दी जाती है तो वह चौबीस घंटे तक बराबर चलती रहती है। दीवाल घड़ी, एक बार चाबी दे देने पर आठ रोज तक बराबर चलती रहती है। परन्तु कोई घड़ी ऐसी हो कि जब तक आप उसमें चाबी भरते रहें तब तक ही वह चलती रहे और चाबी भरना बन्द किया कि वह भी बन्द हो जाय तो कहिये उसे आप घड़ी कहेंगे या खिलौना? वह समय बताने वाली घड़ियाल नहीं कही जा सकेगी, परन्तु उसका शुमार खिलौने में ही किया जायगा। इसी प्रकार जो मनुष्य सामायिक करे वहाँ तक ही उसका समभाव कायम रहे और फिर उसके आचरण में विषमता आ जाय, उसकी प्रवृत्तियों में समता का अंश भी दिखाई न दे, तो समझ लेना चाहिये कि उसकी सामायिक सच्ची सामायिक नहीं है। यह

सामायिक भी आभास मात्र ही है। ऐसी स्थिति में भाव
यिक की कल्पना करना तो आकाश से फूल चुनना ही यहा ज

वर्षों तक सामायिक करने पर भी समभाव की सिद्धि
हो तो शान्त चित्त से आत्म निरीक्षण करना चाहिये
भाव के मार्ग में जो जो बाधक तत्त्व अन्तरायरूप होते है
दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

बालपोथी पढने वाला छोटा बालक एक वर्ष
किताब को पूरी करता है उसे ही आठवीं कक्षा का विद्या
घण्टे में पढ डालता है। बालपोथी पढने वाले में और
कक्षा के लड़के में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर,
और समतारस की लहर सामायिक शुरु करने वाले में और
से सामायिक करने वाले में भी होना चाहिये।

वर्षों तक अभ्यास करते रहने पर भी जो विद्यार्थी
पोथी में ही रहे आगे नहीं बढ़े तो उस के लिये आप क्या
करेंगे? इसी तरह वर्षों से सामायिक करने वाले में भी
वृत्ति प्रकट न हुई हो तो उसके लिये आप किस को नि
मानेंगे?

एक बार हमारे पूज्य गुरुदेव ने फरमाया था
मनुष्य मकान बनाने का विचार कर बाँध काम शुरु करा
दिन में बनी हुई भींत रात में गिर जाती हो तो कहि
बाँध काम कभी पूरा भी हो सकेगा? वर्षों तक उसका
क्यों न चलता रहे पर इस तरह वह कभी पूरा नहीं हो
यही हाल सामायिक का भी है। सामायिक में समभाव
मानी जाती है, परन्तु सामायिक पूरी हो, न हो, तब

यह समभाव की दीवाल गिर कर चकनाचूर हो जाती है, तब कहिये, ऐसी स्थिति में समभाव में कभी वृद्धि हो सकेगी ?

पाया मजबूत न हो तो दीवाल गिर जाती है। इसी तरह सामायिक का पाया भी मजबूत न हो तो उसका समतारस बह जाता है। सामायिक का पाया विवेक है अतः समभाव को दृढ़ रखने के लिये विवेक का पाया भी दृढ़ बनाना चाहिये।

पहले के जमाने के श्रावकों में और आज के श्रावकों में जमीन आसमान का अन्तर हो गया है। पहले के श्रावकों में सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्मक्रियाओं के प्रति पूर्ण श्रद्धा होती थी। जिसका कि आज नितान्त अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। सूरत के एक प्रतिष्ठित जवेरी को झूठा आरोप लगा कर कैद में डाल दिया गया था। सामायिक और प्रतिक्रमण करने का उसको रोज का नियम था। परन्तु जेल में धार्मिक क्रिया करने की सुविधा नहीं थी अतः उसने जेल के व्यवस्थापक से कहा—जैसे आपको नमाज पढ़नी होती है वैसे हमको भी धार्मिक क्रिया करनी पड़ती है अतः इस की सुविधा कर देंगे तो मैं आपका आभारी होऊंगा। व्यवस्थापक भला आदमी था अतः उसने सेठ के लिये धार्मिक क्रिया करने की सुविधा कर दी। सेठ इससे इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने पुत्र को हर रोज पाँच सौ रुपया व्यवस्थापक को इनाम देने के लिये कह दिया।

कुछ दिनों बाद ही सेठ पर लगाया गया आरोप झूठा सिद्ध हुआ और उसे निर्दोष छोड़ दिया गया। अब वे व्यवस्थापक ने सोचा—इस इनाम की खबर बादशाह को लग जायगी तो मुझे दण्ड दिये बिना नहीं रहेगा। अतः यह सेठ

वापिस देने लगा। सेठ ने कहा—भाई ये रुपये तो मैंने तुम्हें प्रेम से भेंट किये हैं इसमें तुम्हें घबराने की कोई बात नहीं है। मैंने तो तुम्हें तीन पाँच सौ रुपये ही दिये हैं परन्तु तुमने तो मुझे जिस की कोई कीमत ही नहीं हो सकती ऐसा अमूल्य सामायिक-रत्न प्रदान किया है। प्रतिदिन सामायिक रत्न कमाने का मौका प्रदान कर तुमने मेरे पर विशेष उपकार किया है।

कहने का आशय यह है कि सेठ ने जेल में भी अपना सामायिक का नियम नहीं छोड़ा था। ऐसे थे पहले के श्रावक। परन्तु आज तो शिथिलता ही नजर आती है। ऐसा दृढ़ नियम पालन आज कहाँ देखा जाता है।

मुसलमानों को देखिये वे प्रतिदिन समय पर नमाज पढ़ेंगे ही। वे प्रवास में हों या जंगल में, पर नमाज के समय फौरन नमाज पढ़ने लग जायेंगे। किसी भी स्थिति में वे नमाज पढ़ना भूलेंगे नहीं। परन्तु आपकी क्या स्थिति है? आपके पास समय हो, पर आप उसे विकथा में गँवा दें तो यह आपके लिए लज्जास्पद बात ही कही जायगी। जो श्रावक है, उसे सामायिक-प्रतिक्रमण करने का तो प्रतिदिन नियम रखना ही चाहिये।

कुछ लोग जैसा कि पहले मैंने कहा, यह कहते हैं कि सामायिक तो हम करते हैं परन्तु हमारा मन स्थिर नहीं रहता है। मन को स्थिर बनाने के कई उपाय हैं पर इसका मुख्य आधार आजीविका की शुद्धि पर रहा हुआ है। सत्य और प्रामाणिकता से जीवन निर्वाह करने पर चित्त शुद्ध और स्थिर रह सकता है। इसके अभाव में मन की स्थिरता नहीं रह सकती है।

पूणिया श्रावक की सामायिक हमारे यहाँ प्रसिद्ध है। उसने
ते पास बारह आना की ही पूंजी रखी थी। इस से वह रूई
रीद कर पूणियाँ बनाता था और उसी को बेच कर अपनी
जीविका चलाता था। एक बार जब वह सामायिक में बैठा
आ था तब रोज की तरह उसका मन स्थिर नहीं था। इससे वह
चार में पड गया। उसने सोचा हो न हो आज बिना हक की
तु का उपयोग हो गया है, अन्यथा चित्त की स्थिरता विचलित
यों न हो। उसने अपनी सारी दिनचर्या पर नजर दौड़ाई पर कहीं
उसे भूल प्रतीत न हुई और न किसी बिना हक की वस्तु का
पयोग किया ही प्रतीत हुआ। सामायिक पूरी होने पर उसने
पनी धर्मपत्नी से पूछा—आज भोजन में किसी दूसरे घर की वस्तु
नहीं आ गई थी न? उस की पत्नी ने कहा—'भोजन म तो दूसरे
र की वस्तु नहीं आई थी पर चूल्हा जलाने के लिये पड़ौसी के
र का जला हुआ छाण (कंडे) का टुकड़ा मैं बिना पूछे जरूर
ठा लाई थी।' पत्नी के इस स्पष्टीकरण से पूणिया श्रावक को
सामायिक में चित्त स्थिर नहीं रह सकने का कारण समझ में आ
या। उसने अपनी पत्नी को फिर कभी भविष्य मे इस प्रकार न
नें, समझा दिया।

केवल मात्र दूसरे के घर का एक तुच्छ-सा वस्तु कंडे (छाण)
ा उपयोग करने वाले का चित्त भी सामायिक म स्थिर नहीं रह
कता है तो दूसरों के श्रम से कमाये गये धन पर मजा करने
ालों का मन सामायिक में कैसे स्थिर रह सकता है? अत
सामायिक व्रत की शुद्ध आराधना करने के लिये उसकी प्राथमिक
भूमिका रूप आजीविका की शुद्धि करना और आवश्यक खर्च
टाना आवश्यक होता है।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं—याग-दुष्प्रणिधानाऽनादार स्मृत्यनुपस्थापनानि। हाथ पैर आदि अगों का अयोग्य सचालन करना अथवा छह काय के जीवों की हिंसा करना या उन्हें दुःख पहुँचे ऐसी प्रवृत्ति करना काय दुष्प्रणिधान नामक पहला अतिचार है।

सस्कार रहित और अर्थ-हीन भाषा बोलना, छह काय के जीवों की हिंसा हो या उन्हें दुःख पहुँचे ऐसा वचन बोलना वचन दुष्प्रणिधान है।

क्रोध, द्रोह आदि के वशीभूत होकर मनोव्यापार करना मनदुष्प्रणिधान नामक तीसरा अतिचार कहा गया है।

सामायिक में उत्साह न रखना, सामायिक के समय में उसमें प्रवृत्त न होना जैसे-तैसे अव्यवस्थित रूप से सामायिक करना अनादार नामक चौथा अतिचार है।

एकाग्रता के अभाव से या चित्त की अव्यवस्था से अधूरी सामायिक पार लेना स्मृति अनुपस्थान नामक पाँचवाँ अतिचार है।

इन पाँचों अतिचारों से दूर रह कर शुद्ध सामायिक करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

शास्त्रकारों ने सामायिक को भी षडावश्यकों में स्थान दिया है अतः यह प्रतिदिन करनी ही चाहिये। आपको अपने अन्य कार्यों के लिये जैसे समय निकालना पड़ता है वैसे ही सामायिक के लिये भी कम से कम एक कलाक का समय आपको अवश्य प्रतिदिन निकाल लेना चाहिये। यह आत्मा की खुराक है जो उसे रोज मिलनी ही चाहिये। अन्यथा इसके अभाव में वह पुष्ट नहीं हो सकेगी।

श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(१०)

देशावकाशिक-व्रत

१०

देशावकाशिक-व्रत

जैसे बिना पतवार की नौका समुद्र में चारों तरफ से टकरा कर टूट जाती है वैसे ही व्रत या संयम रहित मानव भी चारों तरफ से टक्कर खाकर पतन को प्राप्त होता है। जीवन को विशेष संयमी बनाने के लिये ही ये सभी व्रत हैं, उनमें दसवाँ देशावकाशिक व्रत है।

छठे व्रत में दिशाओं की जो मर्यादा बाँधी गई हो, संवर की वृद्धि के लिये प्रतिदिन की दिशा-मर्यादा में,

और सातवें व्रत में जो उपभोग-परिभोग की मर्यादा रखी है उसमें एक दिन के लिये कमी करने का इस व्रत का उद्देश्य है। मनुष्य दिशाओं की या उपभोग परिभोग की जीवन पर्यन्त जो मर्यादा कर लेता है तदनुसार वह प्रतिदिन उनका उपभोग नहीं करता है अत आवागमन के क्षेत्र की और भोगोपभोग के पदार्थ की एक दिन के लिये मर्यादा कम करना, इस देशावकाशिक व्रत का उद्देश्य है।

कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि सभी व्रतों में जो मर्यादायें रखी हों, उन सब मर्यादाओं में कुछ समय के लिये कमी करना देशावकाशिक व्रत है। चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ आदि व्रतों में जो अधिक छूट रखी गई हो उसे कुछ समय के लिये अधिक मर्यादित करना चाहिये, ऐसा उनका कहना है।

वर्तमान समय में उपवास करके, पानी पी के अथवा एकासना करके २४ घण्टे के लिये १८ पापस्थानों का त्याग कर सवरकरणी में समय बिताना दसवाँ व्रत माना जाता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार—

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—*'आनयन प्रेष्य-प्रयोग-शब्दरूपानुपातपुद्गलप्रक्षेप'।* आनयन अर्थात् जितने प्रदेश का नियम किया है उससे बाहर की वस्तु मगाना। स्वयं न जाकर नौकर से मंगाना 'प्रेष्य प्रयोग' है। आवाज देकर मकान के बाहर किसी व्यक्ति को बुलाना 'शब्दानुपात' है। शब्द कहे बिना वस्तु की आकृति बनाकर मर्यादा से बाहर वस्तु मगाई हो या किसी को सकेत से बुलाना हो तो यह 'रूपानुपात' है। पत्थर या ढेला फेंक कर किसी को अपने निकट आने की सूचना करना 'पुद्गलप्रक्षेप' है। दसवें व्रत के आराधक को इन अतिचारों से दूर रहना चाहिये।

इस व्रत से उपभोग-परिभोग की वृत्तियों को सयमित करने का अभ्यास किया जा सकता है।

वर्तमान प्रणालिका—

आजकल दशावाँ व्रत करने की एक दूसरी प्रणालिका भी चालू है। मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि स्थानों पर दशावाँ व्रत करने की प्रथा है। दशावाँ व्रत करने वाला एक बार भोजन करता है। शेष समय सामायिक, सवर, ज्ञान, ध्यान आदि संवर करणी में व्यतीत करता है। दशावाँ व्रत करने वाला अपने खर्च से सभी व्रतधारी भाई बहनों को खिलाता है। कई असहाय भाई-बहिन भी इसका लाभ लेकर धर्माराधन कर सकते हैं।

कई लोग दशवें व्रत में मिठाइयाँ और दूसरी तैयार बनी बनाई वस्तुएँ लाकर उपयोग करते और यह समझते थे कि तैयार वस्तुएँ लेने से आरम्भ से बच जाते हैं। इस भ्रम को दूर करने के लिये पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज ने अल्पारम्भ और महारम्भ का सुन्दर प्रतिपादन कर समाज को सत्य स्वरूप का भान कराया था।

भगवतीसूत्र में शखजी, पोखलीजी का अधिकार आता है। इन्होंने इस व्रत की आराधना करने के लिये बाजार की तैयार वस्तुएँ नहीं मगाई थीं, लेकिन अपने यहाँ बनी हुई वस्तुओं का ही उपयोग किया था। यदि तैयार वस्तुओं के उपयोग से आरम्भ से बचा जा सकता था तो उन्होंने उनका उपयोग क्यों नहीं किया? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तैयार वस्तुओं के उपयोग से से नहीं बचा जा सकता है, बल्कि महाबन्ध का पड़ता है। जीवन की सभी प्रवृत्तियों में महारम्भ

जीवन की आवश्यकताएँ घटा कर जीवन को पवित्र बनाना चाहिये। महारम्भी वस्तुओं के त्याग का आदर्श, दृष्टि समक्ष रख कर श्रावक को अपना जीवन पवित्र मार्ग में बिताना ही इस व्रत का आशय है।

क्षेत्र या देश सम्बन्धी मर्यादा करना देशावकाशिक व्रत है। गृहस्थ को यथासम्भव स्वदेश से बाहर से मँगाई हुई वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिए। स्वदेशप्रेम और स्वदेशाभिमान रखना और स्वदेश को भूखे मरने में साधनभूत न बनना भी गृहस्थ का देशावकाशिक व्रत है।



श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(११)

पौषध-व्रत

पौषध-व्रत



हमारे शरीर के फेफड़ों में निरन्तर संकोच और विकास की क्रिया होती रहती है। हृदय में सतत धड़कन होती रहती है। नाड़ियों की धकधक अविरत रूप से होती रहती है और रक्त का संचार भी अविरल होता रहता है। ये सभी जब तक गतिशील रहते हैं तब तक मनुष्य जीवित रहता है। जिस क्षण यह गति अवरुद्ध हो जाती है उसी क्षण मानव की मृत्यु हो जाती है।

इसी तरह मनुष्य भी जब तक सच्चरित्र में गतिशील है तब तक ही वह वास्तव में जीवित कहा जा सकता है।

क्षण उसका सच्चरित्र में आगे बढ़ना रुक जाता है उसी क्षण वह जीवित होने पर भी मृततुल्य हो जाता है। बाह्य दृष्टि से फिर भले ही वह जीवित दिखाई देता हो पर आभ्यन्तरिक दृष्टि से तो वह मरा हुआ ही है। गृहस्थ को सच्चरित्र का पालन करने के लिये बारह व्रतों की आराधना करनी चाहिये और दिन प्रतिदिन इन व्रतों को विशेष दृढ़ बनाना चाहिये।

ग्यारहवाँ पौषधव्रत है। शरीर को भूखा रख कर आत्मा को पोषना–शुभ करना पौषधव्रत है। आत्मचिंतन में ही सारा दिवस व्यतीत करना और इस बीच आत्मनिरीक्षण कर आत्म-भाव में रमण करना पौषधव्रत है। इस व्रत में सभी सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग कर चौबीसों घण्टे धर्म-निरत में तत्पर होना पड़ता है। इस व्रत की आराधना से अनात्म भाव घटता जाता है और आत्म भाव का पोषण होता जाता है।

आत्मा का पोषण करने वाले पौषधव्रत को अंगीकार किये हुए मनुष्य के सामने चाहे जितनी भौतिक आपत्तियाँ क्यों न आवें, पर वह उनसे विचलित नहीं होता है। शास्त्र में कामदेव श्रावक का अधिकार आता है। कामदेव श्रावक अपनी पौषध शाला में पौषधव्रत कर आत्म भाव में रमण कर रहे थे। इस बीच उनके शरीर पर दैवी उपसर्ग किया गया था परन्तु वे तनिक भी आत्म भाव से विचलित नहीं हुए थे। घोरतम कठिनाइयों में भी स्थिरता बनाये रखना पौषधव्रत की सिद्धि कही जा सकती है और तभी अखण्ड शान्ति भी प्राप्त हो सकती है।

आजकल मनुष्यों में आत्म बल तो कहाँ रहा, परन्तु आत्म भाव भी घटता चला जा रहा है। मानव समाज आज अनात्म भाव की लहरों में बहा जा रहा है। वह जैसे २ बाह्य वैभव प्राप्त

करता जा रहा है वैसे २ आत्म-वैभव खोता जा रहा है। परन्तु उसे यह याद रखना चाहिये कि आत्मा को खोकर सारे जगत् की प्राप्ति कर लेना कुछ भी मूल्य नहीं रखती है। अंग्रेजी की एक सुन्दर कविता में यही बात कही गई है—For, what shall it profit a soul if he shall gain the whole world and lose his own soul अर्थात् आत्मा को खोकर सारी दुनिया भी मिल जाय तो इससे क्या लाभ हो सकता है?

मनुष्य आज बाह्य सृष्टि के निरीक्षण के लिये इधर से उधर हजारों मीलों की भाग दौड़ करता है। परन्तु क्या यह अन्तर सृष्टि के निरीक्षण के लिये पाव घटा भी किसी दिन बैठता है? वह युरोप और अमेरिका के देशों को देखने जाता है, पर अपने हृदय प्रदेश को देखने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता। मनुष्य सुबह उठकर रोज अखबार पढ़ने बैठता है और दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है इसको जानना चाहता है। यदि किसी कारण से अखबार न मिले तो मनुष्य अधीर बन जाता है। दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है? इसको जानने की उसे इतनी उतावल होती है, परन्तु हृदय में क्या हलचल हो रही है अपनी वृत्तियों में कैसा संग्राम चल रहा है? इसे जानने की उसे फुरसत ही नहीं मिलती है। मनुष्य की ऐसी पामर दशा आज हो गई है। इस पामर दशा से मुक्त होने के लिये आन्तर वृत्तियों का निरीक्षण करने के लिये और आत्म-विकास साधने के लिये पौषध व्रत एक उत्तम साधन बताया गया है।

आत्मा के लिये एक अंग्रेज विद्वान् ने कहा है कि—He that loses wealth, loses much, but that loses friends loses more but he that loses his spirit loses all अर्थात् जो मनुष्य संपत्ति गुमा बैठता है वह बहुत

बैठता है। जो मित्र गुमा देता है वह उससे भी अधिक खो देता है। परन्तु जो आत्मा को खो देता है वह सब कुछ खो देता है। जो मनुष्य भौतिक शक्तियों का संग्रह करता है वह आत्मिक शक्तियों को गुमा देता है। वह जड़ वैभव की तरफ आकर्षित होता जाता है और आत्मा से दूर होता जाता है। इसलिये अनात्म भावों को मिटा कर आत्म भावों के पोषण के लिये पौषधव्रत की आवश्यकता बताई गई है।

ग्यारहवें पौषधव्रत में श्रावक को धर्म जागरण करते हुए तीन मनोरथों का चिन्तन करना चाहिये। वे तीन मनोरथ ये हैं— आरम्भ, परिग्रह को दिन प्रतिदिन कम करने की भावना, अन्त में इनसे सर्वथा मुक्त होने की भावना और पंडित मरण की भावना।

पहले मनोरथ में आरम्भ-परिग्रह को घटाने का चिन्तन होना चाहिये। श्री ठाणांग सूत्र में फरमान है कि 'जहाँ तक जीव आरम्भ परिग्रह में लीन रहेगा, जहाँ तक आरम्भ परिग्रह के प्रति उदासीन वृत्ति न हुई हो वहाँ तक जीव धर्माराधना तो क्या, धर्म सन्मुख भी नहीं हो सकेगा। धर्म की प्राप्ति के लिये सब से पहले इस मनोरथ का चिंतन करना चाहिये। परन्तु आज ऐसे चिंतन करने वाले कितने मिल सकेंगे? आज तो जब भी मनुष्य को एकान्त का समय मिलता है, तब वह आरम्भ परिग्रह को घटाने के बदले बढ़ाने का ही विचार करता है। 'कौन सा व्यापार करना? कौन-सा कारखाना खोला जाय, जिससे कि घर का बंगला और मोटर हो जाय। परदेश की मुसाफिरी करने का मौका कब आवे? और कब नये उद्योग धंधे खोलने का अवसर मिले? इस तरह के विचार ही आत्म चिंतन के समय भी दिमाग में घूमते रहते हैं। इन विचारों को शीघ्र ही मूर्तस्वरूप दिया जा सके, इसके लिये

शीघ्रगामी मोटर, आगगाड़ी (रेल) और हवाई जहाज जैसे साधनों का उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार धन की वृद्धि करने का आशय विलास और आडम्बर बढ़ाने के सिवाय और कुछ नहीं होता है। लग्नादि प्रसंगों में खूब आडम्बर करने का प्रयास किया जाता है। लग्न में इतने हजार खर्च किये इतने महमान और इतने बाजे वाले बुलाये इतने हजार के बिजली के बल्ब जलाये गाँव में बिजली का साधन न होते हुए भी नई मशीन लगवाई पंखे लगाये, सिनेमा की भी सुविधा की। बरात वालों को सोना चाँदी की वस्तुएँ भेंट की। खूब मेवा-मिष्टान्न खिलाये, इस प्रकार की झूठी वाहवाही के लिये न्याय नीति अनीति का विचार किये बिना ही पैसा इकट्ठा किया जाता है। वर और कन्या परस्पर में जहाँ एक दूसरे को फूल की माला पहिना कर भी अपना लक्ष्य पूरा कर सकते हैं वहाँ आज हजारों और लाखों का खर्च केवल वाहवाही के लिये किया जाता है। इस तरह का अपव्यय कर धन बढ़ाने वाले और वाहवाही करने वाले दोनों ही ज्ञानी की दृष्टि में दयापात्र अज्ञानी कहे गये है।

सवासौ वर्ष पूर्व पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा पत्नी को भी सती हो जाना पड़ता था। उस समय का ऐसा ही रिवाज था कि पत्नी को भी पति के साथ में अग्नि में जल जाना पड़ता था। यह प्रथा अच्छी नहीं थी। आज सभी इसे जंगली प्रथा मानते हैं। परन्तु बाह्याडम्बर में अपने समय, शक्ति और धन का अपव्यय करना तो उस सती होने की प्रथा से भी अधिक भयंकर और घातक प्रथा है। सती होने की प्रथा में तो केवल एक बहिन को ही अपने जीवन का अन्त करना पड़ता है, जब कि आडम्बर की प्रथा तो अनेकों को चिन्ताग्नि में जलाकर राख कर देती है।

यदि धर्माचार्य धार्मिक उत्सवों में होने वाले आडम्बरों के प्रति भी उदासीन बन जायें तो गृहस्थों को भी बोधपाठ मिल सकता है और समाज आरम्भ परिग्रह के पाप से बच सकता है।

इस व्रत के अतिचार—

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—*अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानानिक्षेप-संस्तारोपक्रमणानादर स्मृत्यनुपस्थापनानि*। किसी जीव जन्तु को आँखों से बिना देखे अथवा तो कोमल उपकरण द्वारा प्रमार्जन किये बिना मल मूत्र आदि का त्याग करना देखे बिना पाट, पाटला लेना, बिना पूंज (साफ किये) बिछौना लगाना, पौषधव्रत करने में उत्साह नहीं दिखाना और पौषध व्रत का समय याद नहीं रखना, ये पाँच अतिचार हैं। इस व्रत की आराधना से आत्मा पुष्ट और बलवान् बनती है। पौषध सिवाय के दिवसों में भी श्रावकों को उपर्युक्त रीत्यानुसार जीवरक्षा के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। अपने जीवन के सभी व्यवहारों में त्रस जीवों की हिंसा न हो इसके लिये जागृति रखनी चाहिये। जिस प्रवृत्ति से त्रस जीवों की हिंसा हो उस प्रवृत्ति का तथा ऐसे साधनों का त्याग कर देना चाहिये।

पहले के श्रावक महिने में छह पौषध करते थे। महीने में छह दिन काम धन्धा बन्द कर आत्मविचारणा करते थे। ईसाई धर्म में रविवार की छुट्टी का जो विधान है, वह भी धर्माराधना के लिये ही किया गया है। रविवार के दिन मनुष्य अपना गोरख धन्धा छोड़ कर प्रभु प्रार्थना में लीन रहे, इसी उद्देश्य से रविवार को 'होलीडे' यानी पवित्र दिवस तरीके तय किया गया है। परन्तु आज तो उल्टा हो रहा है। अन्य दिनों की अपेक्षा भी रविवार

ही अधिक विलासी जीवन व्यतीत किया जा रहा है। नाना भाँति, अच्छे वस्त्र पहिनना ' जीमनवार करना हवा खाने जाना, नाटक सिनेमा देखना आदि प्रवृत्तियों में रविवार का दिन व्यतीत किया जाता है। 'होलीडे' अर्थात् पवित्र दिवस की आज इस तरह होली पर ली जाती है। कहने का आशय यह है कि पौषधव्रत के लिये या आत्म-साधना के लिये महीने में अमुक दिवस निश्चित कर उन्हें आत्म चिन्तन तथा मनन में ही व्यतीत करने चाहिये।

गृहस्थ को प्रतिमास कम से कम एक बार जब अवकाश या सुभीता हो और मानसिक तथा शारीरिक स्थिति अनुकूल हो तब निराहार रहना चाहिए, जिससे शरीर नीरोग और सहनशील बने। इस स्थिति में चौबीस या बारह घण्टे आत्म मण करत हुए व्यतीत करने चाहिये। इस व्रत के लिये विशेषत अष्टमी चतुर्दशी या पूर्णिमा रूप पर्व तिथियाँ अधिक उपयुक्त हैं।

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खाने वाला मुनि है जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नहीं है।

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिये अपने अगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पण्डितजन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़ कर रखें।

जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गाय दान में देता है, अपेक्षा कुछ भी न देने वाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुख स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस् का मार्ग है।



श्रावक-धर्म

[श्रावक के बारह व्रत]

(१२)

अतिथि-संविभाग-व्रत

श्यक वस्तुओं का दान देने से उनके जैसे पवित्र जीवन का अनुमोदन होता है, और उस पवित्र जीवन के अनुमोदन से दान देने वाले का जीवन भी विकसित होता है। न्यायोपार्जन द्वारा शुद्ध भक्ति-भाव पूर्वक सुपात्र को दान देने से इस व्रत की आराधना की जा सकती है।

ग्यारह व्रतों से यह व्रत एक दृष्टि से बिलकुल भिन्न हो जाता है। ग्यारह व्रतों की आराधना करना जहाँ प्रत्येक मनुष्य के स्वाधीनता की बात है, वहाँ बारहवें व्रत की आराधना उसके स्वाधीन नहीं है—पराधीन है। क्योंकि मुनिराजों की उपस्थिति सदैव एक ही गाँव में नहीं रहती है। कदाचित मुनिराज विराजते भी हों तो प्रतिदिन एक ही घर से वे आहार लेने नहीं आ सकते हैं कभी आहार पानी लेने भी पधारें तो देने वाला 'सूझता' होना चाहिये निर्दोष होना चाहिये, दी जाने वाली वस्तु निर्दोष होनी चाहिये और मुनिराजों को कल्पनीय भी साथ में देने वाले की भावना भी उत्कृष्ट होनी चाहिये।

यह सभी बातें होने पर भी लेने वाले मुनिराज सुपात्र होने चाहिये। पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्ति के आराधक मुनिराज ही सुपात्र माने जाते हैं।

इस प्रकार इस व्रत का माहात्म्य बढ जाता है। श्रावक जब चाहे सामायिक पौषध कर सकता है, इसी तरह अन्य व्रतों की आराधना भी स्वतन्त्रतापूर्वक की जा सकती है, परन्तु बारहवाँ व्रत अपने आधीन न होने से इसकी आराधना के लिये विशेष जागृति रखनी चाहिये।

संविभाग बिना मोक्ष नहीं

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि *'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।'* जो मुनि संविभाग नहीं करते वे मुक्त नहीं हो सकते। यह कथन मुनि जीवन पर लागू पड़ता है। परन्तु गृहस्थों को भी इसका अनुकरण करना चाहिये। मुनि अपने स्वधर्मी के लिये संविभाग कर देने पर ही आहार ले सकता है। इसी तरह गृहस्थ को भी ऐसा नियम रखना चाहिये। जिस मनुष्य को धन प्राप्त हुआ हो तो उससे उसका संविभाग करना चाहिये–यानी दूसरों को भी उसमें से देना चाहिये। यह नियम धनवानों के ही लिये नहीं है सब पर लागू पड़ता है। धनवानों की तरह बुद्धिमानों को भी अपनी बुद्धि का संविभाग करना चाहिये। धनवान या बुद्धिमान् अपने धन या बुद्धि का उपयोग केवल स्वार्थ के लिये ही करे परमार्थ के लिये उसका संविभाग नहीं करे तो वे मुक्ति-मार्ग में अपनी प्रगति नहीं कर सकते हैं।

आज के वकील, सोलीसिटर डाक्टर और इन्जीनियर अपनी बुद्धि का संविभाग नहीं करते हैं। कोई मनुष्य सोलीसिटर के पास दो मीनिट बात कर सम्मति लेना चाहे तो उससे भी पच्चीस रुपये का बिल बन जाएगा। डाक्टर से कोई यह पूछ बैठे कि मेरे गले में कान नाक आँख में क्या दर्द है? तो वह इस दर्द के बताने का ही पैसा ले लेता है। मकान का बाँध-काम कैसा हो? यह बताने के लिये भी इन्जिनीयर पैसा ले लेते हैं। यह सब बुद्धि की बिक्री नहीं तो और क्या है?

शिक्षितों को चाहिये कि वे अशिक्षितों के प्रति अपनी बुद्धि का संविभाग करें। जो बलशाली हैं, उन्हें निर्बल की रक्षा

बलभद्र मुनि मासखमण की तपश्चर्या करते थे। उनका शरीर इतना सुन्दर था कि गाँव की स्त्रियाँ देखकर मोहित हो जाती थीं। एक बार एक स्त्री ने जो कि कुए में पानी भर रही था, बलभद्र मुनि को मार्ग में जाते हुए देखा। मुनि को देखने म वह इतनी तल्लीन हो गई कि घड़े म बाँधने की रस्सी उसने अपने पास खड़े हुए बालक के गले में डाल दी। इस घटना से मुनि बड़े खिन्न हुए और उन्होंने तब से गाँव में आना ही बन्द कर दिया।

एक बार जंगल में इन्हीं मुनि को एक सुनार और उसकी धर्मपत्नी दोनों दान दे रहे थे, एक हिरण ने भी यह देखा और उसने भी मन ही-मन खुश हो दान का अनुमोदन किया। अक्स्मात् उसी समय तेज हवा चली और उससे एक वृक्ष की शाखा टूट कर इन चारों पर गिर पड़ी, जिसमे मुनि हिरण सुनार और सुनारनी चारों ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। ये सभी मर कर पाँचवे देवलोक में गये।

इस घटना में यही देखने का है कि तपस्वी और संयमी मुनि पाँचवें देवलोक म गये, शुद्ध भाव से दान देने वाले सुनार और सुनारनी भी पाँचवें देवलोक म गये और दान का अनुमोदन करने वाला तथा शुभ भावना रखने वाला हिरन भी उसी गति में गया। अतिथि संविभाग व्रत का इतना अधिक महत्व है अतः प्रत्येक व्यक्ति को सुपात्र दान देने की भावना प्रति पल जागृत रखनी चाहिए। साधु साध्वियों का योग न मिलने पर अल्प परिमाण में भी इस व्रत की आराधना करने के लिये भोजन के समय अपने स्वधर्मी भाई बहनों को याद कर लेना चाहिए। अपने में मदद करने योग्य कोई भाई बहन हो तो उसकी योग्य मदद करके ही भोजन करने का नियम ले लिया जाय तो इसका भी कि

अच्छा परिणाम आ सकता है ? आप चाहें तो इस तरह भी धर्माराधना कर सकते हैं।

जो धन का उपयोग भोग विलास में करता है और दान नहीं देता, लक्ष्मी उसके लिये भार रूप हो जाती है। एक विद्वान् ने कहा है कि—

Money spent on myself may become a mill stone about my neck, money spent on others may give me the wings like angels अपने भोग विलास में खर्च किया गया पैसा चक्की का पाट बन कर गले में लटक जाता है जब कि परोपकार में व्यय किया हुआ द्रव्य मनुष्य को देवदूत की तरह पंख लगा देता है।

कहने का आशय यह है कि विलास में लगाया गया धन मनुष्य को डुबा देता है, जब कि सत्कार्य में व्यय किया गया धन मनुष्य को ऊँचा ले जाता है।

पूणिया श्रावक का नाम आपने सुना होगा। वह रोज हाथ से पूणियाँ बनाता था और न्यायपूर्वक अपनी आवश्यकतानुसार धन का उपार्जन करता था। रोज एक स्वधर्मी बन्धु को खिलाने का भी उसका नियम था।

इसके सिवाय, वे एक दिन उपवास करते और अपने भाग का दूसरे स्वधर्मी भाइयों को खिलाते। दूसरे दिन उनकी धर्मपत्नी उपवास करती और उसके भाग का बचा हुआ भोजन भी वे दूसरे भाइयों को खिलाते थे। इस तरह ये स्वधर्मी-वात्सल्य से इस व्रत यथाशक्ति आराधना करते थे।

इस व्रत के पाँच अतिचार (दोष) हैं । सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश, मात्सर्य । सचित्त वस्तु में कल्पनीय शुद्ध वस्तु को (नहीं देने की भावना से) ढक देना, भिक्षा-काल व्यतीत हो जाने के बाद भिक्षा के लिए निमंत्रण देना, वस्तु के खराब हो जाने पर उसका दान देना, नहीं देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई कहना अथवा अवज्ञापूर्वक दूसरों से दान दिलाना, मत्सर-ईर्षा-द्वेष-कषाय वश दान देना । ये पाँच अतिचार हैं । इन अतिचारों का त्याग कर शुद्ध व्रत का पालन करने से उदारता का गुण विकसित होता है और त्याग जीवन का अनुमोदन भी होता है ।

इस व्रत का आराधन मनुष्य-जीवन को दिव्य और तेजस्वी बनाता है ।

